NAINI TAL
Class no. 8314
Book no. U 62 B
Reg no. 2843

व्यक्तिगत

व्यक्तिगत

लेखक
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

—:*:—

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, गौतम बुद्ध-मार्ग
लखनऊ

पहली बार] सन् १९५४ [मूल्य २)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान

१. भारती(भाषा)-भवन, ३८१०, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
३. इंडियन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम पता हमें लिखें।

Durga Sah Mar

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

दो शब्द

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की नवीनतम कृति 'व्यक्तिगत' अपने पाठकों को भेंट करते हुए आज हमें हर्ष हो रहा है। 'उग्र'जी की लेखनी के विषय में किसी परिचयात्मक वक्तव्य की लेश-मात्र आवश्यकता नहीं। उनकी क्रांतिकारिणी रचनाओं से हिंदी-संसार भली भाँति परिचित है।

'व्यक्तिगत' को कहानियों की अपेक्षा 'स्केच' अथवा चरित्र-चित्रणों का संकलन कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि सामाजिक जीवन के व्यक्तिगत संस्मरणों की छाया इसमें प्रचुररूपेण वर्तमान है। 'उग्र'जी की लेखनी, जो यथार्थवाद और अप्रिय-सत्य की पृष्ठभूमि पर सदा क्रीड़ा करती आई है, इस पुस्तक के प्रसंगों में भी उसी दृढ़ता और निष्पक्षता से अपना कौतुक दिखा रही है।

समाज के विभिन्न स्तरों के प्रतीक पात्र जो अपनी-अपनी मौलिकता से स्वभावतः चिपटे रहते हैं; 'उग्र'जी की आलोचना और तीखी दृष्टि से नहीं बचे हैं। उनके सिद्धांतों और विचारों की शल्य-परीक्षा ऐसी कुशलता से विद्वान् लेखक ने कर डाली है कि पढ़ते ही बनता है। इसमें संदेह नहीं कि आत्मानुभव के प्रत्येक स्पष्टीकरण का सत्य—भले ही वह अप्रिय हो—कला का एक मौलिक अंग सिद्ध होता है। यह सत्य, 'उग्र'जी की लेखनी के प्रत्येक शब्द में निहित है।

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान

१. भारती(भाषा)-भवन, ३८१०, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
३. इंडियन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

Urga Sah Mun
N jr.

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

दो शब्द

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की नवीनतम कृति 'व्यक्तिगत' अपने पाठकों को भेंट करते हुए आज हमें हर्ष हो रहा है। 'उग्र'जी की लेखनी के विषय में किसी परिचयात्मक वक्तव्य की लेश-मात्र आवश्यकता नहीं। उनकी क्रांतिकारिणी रचनाओं से हिंदी-संसार भली भाँति परिचित है।

'व्यक्तिगत' को कहानियों की अपेक्षा 'स्केच' अथवा चरित्र-चित्रणों का संकलन कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि सामाजिक जीवन के व्यक्तिगत संस्मरणों की छाया इसमें प्रचुररूपेण वर्तमान है। 'उग्र'जी की लेखनी, जो यथार्थवाद और अप्रिय-सत्य की पृष्ठभूमि पर सदा क्रीड़ा करती आई है, इस पुस्तक के प्रसंगों में भी उसी दृढ़ता और निष्पक्षता से अपना कौतुक दिखा रही है।

समाज के विभिन्न स्तरों के प्रतीक पात्र जो अपनी-अपनी मौलिकता से स्वभावतः चिपटे रहते हैं; 'उग्र'जी की आलोचना और तीखी दृष्टि से नहीं बचे हैं। उनके सिद्धांतों और विचारों की शल्य-परीक्षा ऐसी कुशलता से विद्वान् लेखक ने कर डाली है कि पढ़ते ही बनता है। इसमें संदेह नहीं कि आत्मानुभव के प्रत्येक स्पष्टीकरण का सत्य—भले ही वह अप्रिय हो—कला का एक मौलिक अंग सिद्ध होता है। वह सत्य, 'उग्र'जी की लेखनी के प्रत्येक शब्द में निहित है।

'व्यक्तिगत' में लेखक ने जिन विशेषताओं का समावेश किया है, वे साधारणतया वर्तमान युग की साहित्यिक कृतियों में नहीं मिलतीं, यही उसकी सबसे बड़ी सफलता का प्रमाण है। व्यंग्य और हास्य की मीठी चुटकियां लेते हुए लेखक ने अपने संपर्क में आनेवाले महानुभावों के जो संस्मरण लिखे हैं, वे बड़े महत्त्व-पूर्ण और मौलिक हैं।

हमें विश्वास है, हिंदी-जगत् सदा की भाँति 'उग्र'जी की इस कला-कृति को भी अपनाकर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय देगा, और हम नव-वर्ष की शुभकामनाओं के साथ निकट-भविष्य में विद्वान् लेखक की अन्य कृतियाँ भी प्रकाश में लाने में समर्थ हो सकेंगे।

दुलारेलाल

प्रेमोपहार

सूची

	पृष्ठ
१—शिवोऽहम्	१
२—मैं और श्रीभगवतीचरण वर्मा	६
३—होशियार—पागल	२२
४—आदरणीय श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ...	२७
५—काटजू और कलचर	३३
६—सिंहल-विजय	३७
७—नौ वर्ष बाद मैं युक्त प्रदेश में	४१
८—बंबई बनाम बनारस	५१
९—हमारा पीड़ित पत्रकार	५६
१०—देवालय और वेश्यालय	६६
११—'.....पायल झनन-झनन बाजे !' ...	७७
१२—बनारस फिर से बसे, तो बेहतर	८७
१३—प्रदर्शनी	९५

शिवोऽहम्

बुरे काम करता हूँ, तो ग्लानि नहीं होती, और धोके में भी कोई भला काम बन पड़ता है, तो बड़ा गर्व याने दंभ होता है। मैं अपनी कह रहा हूँ, आप अपनी जानें।

गोस्वामीजी ने 'विनय' में अलबत्ता अपने बहाने अच्छे-से-अच्छे आदमियों का खाक़ा खूब ही खींचा है। जैसे—

किए सहित सनेह जे अघ हृदै राखे चोरि;
सग-वश किए शुभ, सुनाए सकल लोक निहोरि।
करौं जो कछु धर्मौ सचि-पचि सुकृत-सिला बटोरि;
पैठि उर बरबस दयानिधि, दंभ लेत अँजोरि।
कृपासिंधु! या ते रहौं निसि-दिन मन मारे;
महाराज! लाज आपु ही निज जाँघ उघारे!

लेकिन मुझे अपनी कहने दीजिए। पिछले ६-७ महीनों से गंगा-स्नान रोज़ाना चल रहा है, और गंगा-जल-पान भी। पिछले ६-७ महीनों में एक घूँट भी जिसने शराब पी हो, उसे सिनेमा-नटी के अधर-पान का पाप लगे!

और मैं गंगा-स्नान करता हूँ प्रायः ठीक चार बजे, जब कि निशा सपने देखती रहती है, और उषा का क्षितिज के इस छोर से उस छोर तक खूब खोज करने पर भी कहीं पता नहीं होता

है। पूर्व के क्षितिज की ओर पृथ्वी पर उतरने की चेष्टा-सी करता हुआ सप्तर्षि-मंडल नज़र आता है, नीचेवाले तीन तारों के बीच में वशिष्ठ और उनसे प्रायः सटी हुई टिम-टिम-टिम, चम-चम-चम सती अरुंधती। निशांत के प्रशांत वातावरण में गंगा-तट पर तारे इतने सुंदर मालूम पड़ते है कि पार्थिव सौंदर्य उनके सामने नितांत महत्त्व-हीन जान पड़ता है। ये तारे दर असल आग उगलते ज्वालामुखी हों या जाज्वल्यमान गैस के गोले, पर पछुवा पवन-प्रेरित पतितपावनी की प्रातःकालीन तरंगों पर सहस्र-सहस्र उज्ज्वल रूपधारी जल-विहारी ये बड़े चक्षु-शीतल मालूम पड़ते हैं—आँखों की राह इनकी सुधा-धारा हृदय तक नवजीवन का संचार करती स्पष्ट मालूम पड़ती है।

मेरी कुछ आदतें श्रद्धा नहीं, जड़ता से रूढ़ बन गई हैं, जिनमें से एक रात के पिछले पहर तीन बजे उठ जाना भी है। बला से, १ बजे रात तक शराब मस्त पी हो, पर सोकर उठा मैं वही ३-३½ ही तक। ४-४½ तक नहा-धोकर 'रेडी'। ३ बजे क्षिप्रा में स्नान कर ३½ बजे महाकाल-मंदिर की 'भस्माऽरती' में हाज़िर रहने की मेरी आदत उज्जैन के मित्र ही नहीं, विरोधी मित्र भी जानते हैं। पर क्षिप्रा यथा नाम दुबली है। और विमल, विपुल-वारि-वाहिनी, समुद्र-गामिनी, तरल-तरंगा गंगा, भगवान् के वक्षःस्थल की तरह, चौड़ी और अनंतस्पर्शी भुजा की तरह लंबी है। भोर-हरी की हवा में गंगा के स्फीत, स्फटिक वक्षःस्थल पर लक्ष-अलक्ष तरंग-तरुणियों के केश-देश में सितारों का जो मेला लगता

है—'नवरोजा'—इससे अल्ला-हु-अकबर की याद अनायास ही हो आती है।

और मेरे प्रातःस्नान के आनंद की गहराई आप तब तक न पा सकेंगे, जब तक यह न जान लें कि ३½ बजे रात में ही भंग छानकर ४ बजे गंगा-स्नान को जाता हूँ। और कहीं पूर्णिमा की पिछली रात हुई, तो ऊपर द्विजराज, नीचे द्विज-राज, अंदर भंग, बाहर गंग, मैं कहता हूँ, एक रंग सरस बरस जाता है।

इसी रंग बरसात में एक रात गंगा-तट पर स्नान के पूर्व यह विचार मन में उठा कि भीतर भंग, बाहर गंग—फिर मुझमें और भगवान् शंकर में अंतर ही क्या है। हलके नशे में भी विवेक ने विरोध किया। मायावी! भगवान् बनने की हिमाक़त न कर! पर अहंकारी मन बड़ा खुश हुआ, इस सूझ पर कि भंग और गंग का प्रसंग होने पर वह शिवोऽहम् हो जाता है। तत्त्वतः मजा आ गया मन को मन-ही मन इस सूझ पर, और उसी मज़े में मस्त मैं पानी में उतरा—तत्त्वतः शिव, नामतः 'उग्र'—याने, शिवोऽहम्!

एक गोता मारकर, नाभि से ऊपर तक पानी में खड़ा हो सीना और भुजाएँ मलता हुआ मैं अज्ञानोन्मत्त सोचने लगा कि शंकर के माथे पर चंद्रमा, 'उग्र' के माथे पर चंद्रमा, गंगा उनकी अंकवासिनी, 'उग्र' की भी; भंग वह छानते, अपनी भी छनी है गहागहु—बेशक मैं शिवशंभू, गंगाशंकर हूँ। शिवोऽहम्! शिवोऽहम्! शिवोऽहम्!

इसी वक्त पानी के अंदर, कमर में बँधे मेरे गमछे के अंदर, घुटनों के ऊपर सनकता सर्प-सा महसूस हुआ—सर्प ! प्राण मेरे यों उड़े, जैसे आँधी में पीपल के सूखे पत्ते ! एक ही क्षण में, एक साथ ही, गमछे में हाथ डालकर सर्प को पकड़ा, उछलकर मैं पानी के बाहर भागा, और चिल्ला पड़ा गला फाड़कर—अरे बाप रे बाप ! पाँचवीं सीढ़ी पर एक ही उछलान में आने पर मैंने अनुभव किया मुट्ठी में कुंडलित सर्प की चिकनी चंचलता का, और तुरंत उसे छोड़ दिया। जैसे मैं अपने प्राणों के लिये व्याकुल था, वैसे वह भी रहा होगा, क्योंकि मुट्ठी में कुंडलित होने पर भी उसने मुझे काटा नहीं।

लेकिन सर्प के पानी में पुनः गायब हो जाने के पाव घंटे बाद तक होश-हवास मेरे गायबगुल रहे। क्षण-भर पहले नशे में अपने को शिवोऽहम् समझनेवाला शंकर के एक विभूषण सर्प-मात्र से 'शवोऽहम्' बनते-बनते बचा। यह अंतर है ईश्वर और जीव में ! अयोग्य अहंकार के लिये ख़ुदाई कनेठी। और, यह ईश्वर की बड़ी कृपा कि वह मुझे मेरे दंभ की सज़ा भी उसी वक्त नक़द दे देता है, नारकीय दंड के रूप में। कई क्षणों तक सर्प-भय से भीत मैंने नारकीय साँसत का अनुभव किया। एक प्राणांत नहीं हुआ, और सारी दुर्गति हो गई।

और सारी दिल्लगी पर तुर्रा लगा दिया एक प्रातःस्नायी अक्खड़ मिर्ज़ापुरी तरुण ने, मेरे चिल्लाने-भागने पर ठहाका मारकर—"अजी उप्रजी ! आप व्यर्थ ही डरे। वह पनियाँ

साँप था, जिसमें विष नहीं होता। सुना नहीं, कहावत है—

बनियाँ, बाँमन, पनियाँ साँप,
न इनके रिस, न इनके बिस।"

मैं और श्रीभगवतीचरण वर्मा

(१)

कहु 'रहीम' कैसे निभै केरु-बेरु को संग ?
ये डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग।

मेरा यह दोष कि मैं आपसे नाराज़ हो जाऊँ, तो नाराज़ी मेरे नथुनों पर नाचती नज़र आएगी आपके सामने। वर्मा भगवतीचरण का यह गुण कि वह आप पर लाख नाराज़ हों, पर क्या मजाल कि कोई उनके चेहरे से कुछ भाँप सके! ऊपर से भगवतीचरण वर्मा 'कल्चर्ड' (संस्कृत=गढ़े हुए) और मैं 'रा' (नैसर्गिकअनगढ़)। अंदर किसके क्या है, कुछ है भी कि नहीं, अंतर्यामी ही जानें, जिनको अच्छी तरह से जानकर आदमी यही जानता है कि उनके कुछ भी जानने से किसी का कुछ आता-जाता नहीं!

पिछले २५ बरसों के परिचय में वर्माजी मुझे कानपुर में मिले, बनारस में मिले, कलकत्ता, इंदौर और बंबई में मिले। मैं प्रायः उनसे नाराज़ ही रहा, पर वह बराबर क्षमाशील और मुस्किराते ही रहे। पर मैं क्यों नाराज़ होता हूँ, कैसे नाराज़ होता हूँ, और वह कैसे क्षमाशील रहते हैं, इसके एक-दो उदाहरण देने से शायद लोगों को हमारे स्वभाव के बारे में विशेष प्रकाश मिले।

अभी मेरठवाले पिछले अ० भा० हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की

हमारी मुलाक़ात बिलकुल ताज़ी। सम्मेलन के समय और उसके बाद दिल्ली में, निरे संयोग से, हम दोनों काफ़ी नज़दीक—बदगुमानी न हो—दो रात साथ-साथ रहे। और न तो वर्माजी ने कल्पना की थी कि 'उग्र' के साथ रहना पड़ेगा, और न 'उग्र' ने ही ऐसे सकपकाते संयोग की संभावना सोची थी! असल में मेरठ-सम्मेलन के नीरस नाटक से नकिया कर हम सभी भागने की सोच रहे थे। वर्माजी, अशोकजी (स्वतंत्र भारत) और श्रीरुद्रनारायण शुक्ल (रक्षक) नेता नगर के एक ही टेंट में ठहरे थे। वर्माजी और रुद्रनारायणजी को दिल्ली जाना था। अशोकजी कानपुर होते हुए सीधे लखनऊ जाने की कहने लगे, तो मैंने कहा—"हम साथ ही चलेंगे। मुझे भी मिर्ज़ापुर पहुँचने की जल्दी है।" और हम सभी स्टेशन आए, और एक ही सेकेंड क्लास के छोटे डिब्बे में बैठे, जो मेरठ-सम्मेलन की भीड़ दिल्ली तक पहुँचाने के लिये फ़र्स्ट से सेकेंड बनाया गया था। महज़ एक सीट का डिब्बा, सामने छोटा टेबुल। हमारे बैठते-बैठते दिल्ली की प्रो० सुशीला अग्रवाल भी संयोगात् उसी डिब्बे में आ गईं। कुल मिलाकर डिब्बे में पाँच मर्द और एक महिला। मर्दों में मेरे बाद रुद्रनारायण शुक्ल, कालिकाप्रसाद दीक्षित, अशोकजी और वर्माजी। डिब्बा कस गया था। सीट पर चार बैठे थे—सुशीलाजी, वर्माजी, अशोकजी और मैं। शुक्लजी अपने बिस्तर को सीट बनाए ज़मीन पर। वैसे ही दीक्षितजी भी बिस्तरों के ढेर पर बैठे थे। इतने पर भी एक कोई पंजाबी भद्र पुरुष घुस ही

आए, हैट लगाए, मुँह बाए। फिर एक खद्दरधारी और घुसने को हिनहिनाते नजर आए, तो हम सबने प्रार्थना की कि वह हमारी जान पर रहम खायँ, और उन्हें अंदर आने नहीं दिया। क्योंकि सेकेंड क्लास का भाड़ा देकर हम अपने डिब्बे को बंगाल का ब्लैकहोल या काल-कोठरी बनाने को तैयार न हुए। इस पर वह खद्दरी सज्जन चर्खे की तरह भन्नाते हुए गए, जिसका नतीजा यह हुआ कि तीसरे स्टेशन पर रेल का गार्ड हमारे डिब्बे के सामने—दूसरी तरफ—आकर बोला—

"जंटिल मॅन, आप लोग जनाने डिब्बे में बैठे हैं।"

"ग़लत बात।" अशोकजी ने कहा—"मेरठ-स्टेशन पर मैंने अच्छी तरह देख लिया था कि डिब्बा जनाना नहीं है।"

"इधर आकर देखिए।" गार्ड ने कहा।

"आप इधर आकर देखें।" अशोकजी ने जवाब दिया, फिर से देखकर कि उस तरफ़ जनाना बोर्ड नहीं लगा था।

"मैं कहता हूँ, आप लोग फेर में पड़ जायँगे। डिब्बा खाली करना ही पड़ेगा। नहीं तो ट्रेन रुकी रहेगी, और ज़िम्मेदारी आप लोगों पर होगी।" गार्ड ने सख्त स्वर सुनाया।

'आप क़ायदे से बातें करें, आपकी ग़लतियों के लिये हम तकलीफ़ उठाने को तैयार नहीं। आपने उधर जनाना बोर्ड क्यों नहीं लगाया?"

"हमें खाली करने में कोई आपत्ति नहीं," अशोकजी ने कहा—"पर कुली आप बुलावें, साथ ही दूसरे डिब्बे में जगह दें।"

"हम कुछ भी करने को तैयार नहीं।" गार्ड लंबा-तगड़ा। "आप लोग पढ़े-लिखे होकर क़ायदा नहीं जानते, अफ़सोस! लाइए अपने टिकेट।"

"लीजिए टिकेट।" अब वर्माजी जोश में आए। सीट से उठ, सबके टिकेट जेब से निकाल गार्ड की तरफ़ बढ़ाते हुए बमके वह—"और आप हम पर केस चलवाइए। इस धाँधली पर हम उतरने को तैयार नहीं हैं। याद रखिए—दो-दो दैनिक पत्रों के संपादकों से आप उलझ रहे हैं। मैं 'नवजीवन'-संपादक, लखनऊ; यह 'स्वतंत्र भारत'-संपादक, लखनऊ।"

और वर्माजी का तीर निशाने पर लगा। गर्म दिल गार्ड का पारा दो एडीटरों का नाम सुनते ही वैसे ही उतर गया, जैसे खूँटी ढीली हो जाने से सितार का तार। मामला बेड़ा देख सिख टिकेट-चेकर ने गार्ड को समझाया—

"जाने दीजिए, जनाना डिब्बा है, तो क्या हुआ, आख़िर एक औरत तो है न इसमें।"

"ग़ाज़ियाबाद-जंक्शन पर आप लोग डिब्बा बदल लेंगे। नहीं, तो मैं नहीं जानता।" गार्ड पीछे हटा, गाड़ी आगे बढ़ाने के लिये झंडी दिखाता।

"आप कुली देंगे रेलवे खर्चे से और जगह दूसरे डिब्बे में, तभी हम इसे खाली कर सकेंगे, नहीं तो नहीं।" अशोकजी ने कहा। और सारे स्टेशन को पता चल गया कि बेचारे गार्ड ने नरम के धोके कड़े चारे पर मुँह मार दिया था।

गाड़ी चलते ही मैंने वर्माजी की प्रशंसा की। "वा—बहादुर! मार लिया मोर्चा! मैं अकेले होता, तो एकाध बार सत्य के लिये आग्रह कर फिर चुपचाप डिब्बा खाली कर देता, यों कि कुपड्ढों से कौन सरमग़ज़न करे। मगर तारीफ़ है आपकी और अशोकजी की—खूब भिड़े आप लोग।"

"मैं तो सोचता था," रुद्रनारायण ने कहा, "कि वह हमें गिरफ़्तार कराता, तो बड़ा मजा आता। फ़र्स्ट क्लास का न्यूज़ होता। पाँच-पाँच एडीटर एक साथ गिरफ़्तार—वंडरफ़ुल न्यूज़!"

अब मुझे याद आया कि डिब्बे में जितने मर्द थे, सभी एडीटर थे, लेकिन वर्माजी ने मारे दंभ के केवल स्वयं और अशोक को एडीटर माना। यद्यपि 'नवजीवन' से खत्म होकर वह मेरठ आए थे, और 'रक्षक' मासिक तथा 'जय हिंद' दैनिक-वाले अपने पदों पर थे, पर उक्त संपादकों पर उनकी नजर न गई। अगले स्टेशन पर वर्माजी ने एक तगड़े पंजाबी को जगह न होने पर भी बैठा लिया। जिसका उद्देश्य यही था कि ग़ाज़ियाबाद में झंझट हो, तो अपने पक्ष से लड़नेवाला एक पंजाबी भी रहे! मगर वर्माजी का रोब इस क़दर ग़ालिब हो चुका था कि फिर कभी गार्ड को हमारे डिब्बे की तरफ़ देखने की जुर्रत न हुई। अब वर्माजी के क्या पूछने। सुनाया उन्होंने सबको कि; "यह कवि-सम्मेलन नहीं था कि मैं भाग जाता।"

(२)

दिल्ली-स्टेशन पर पहुँचे होंगे हम ७½ बजे। वहाँ ट्रेन से उतरकर अशोकजी मेरे लिये लखनऊ का टिकेट लेने प्लेटफ़ार्म के बुकिंग ऑफ़िस चले गए, और वर्माजी, रुद्रनारायणजी अशोकजी के लौट आने पर दिल्ली जाने की प्रतीक्षा करने लगे। कालिकाप्रसाद दीक्षित को जल्दी थी। उन्होंने स्टेशन छोड़ने के पहले मुझसे पूछा कि—"आप दिल्ली देखेंगे? इरादा हो, तो मेरे ही साथ चलकर ठहरिए।" पर मेरा दिल्ली उतरने का इरादा था ही नहीं। मेरे न करने पर सलामादि के बाद वह चलते बने।

और तब आकर अशोकजी ने बतलाया कि 'रश' इतना तेज़ है कि एक भी सीट किसी भी ट्रेन में मिलना मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन है। उन्होंने स्वयं अपना इरादा मथुरा जाने का बतलाया, और टिकट लाने के लिये एक आदमी को भेजा भी। अब मैं क्या करता? दिल्ली में मेरे दो सौ दोस्त, पर पता मुझे किसी का भी मालूम नहीं। दीक्षितजी कह भी रहे थे चलने को, तो मैंने ना कर उन्हें विदा कर दिया था, वर्माजी से इतना सद्भाव नहीं कि जहाँ वह ठहरें, वहीं मैं भी चला जाता, पर उनके मुँह से यह सुनकर कि वह पं० शिवशंकर शुक्ल के यहाँ ठहरेंगे, मेरी भी हिम्मत बढ़ गई। क्योंकि शुक्लजी मेरे भी खासे परिचित, साथ ही दिल्ली-प्रवासी मेरे दूसरे बंधु पं० हरिशंकर शर्मा के अभिन्न मित्र। शुक्लजी से मिलने पर मुझे

शर्माजी मिल जाते, सो, मैंने वर्माजी से कहा कि मैं भी उन्हीं के साथ चलूँगा। मैंने पूछा, उन्हें कोई आपत्ति तो नहीं ? इस पर मुँह से कुछ न बोलने पर भी चेहरे पर वर्माजी के आपत्ति का घंटा बजता नज़र आया। उन्होंने कहा कि "शुक्ल भी एक बड़े मारवाड़ी के साथ रहते हैं। मैं तो सबेरे ही सुविधा-असुविधा देख दूसरी जगह चला जाऊँगा।" मैंने कहा—"रात ही की दिक़्क़त मुझे भी है, और शुक्लजी से मेरे ऐसे मित्र का पता लग जायगा कि मैं बिलकुल बेफ़िक्र हो जाऊँगा।" और वर्माजी नामंज़ूर क्या करते। कुलियों ने सामान उठाया, स्टेशन बाहर आ दिल्ली के दिलेर ताँगेवालों से परिचित भाव से उलझ, एक ताँगे पर बैठ हम नई दिल्ली के उस बँगले की तरफ़ चले।

दिसंबर का महीना, दिल्ली की रात ९½ बजे, मन मेरठ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की असफलता से ठंडा—तिस पर ठंडे दिल से वर्माजी मुझे लिए जा रहे थे। मैंने चलते ताँगे पर आवाज़ दी—"वर्माजी, शराब की किसी अच्छी दूकान पर ताँगा रोकवाते, तो मैं एक बोतली ले लेता।"

"अरे यार !" चमककर बोले वह—"तुम भी ऐसी बातें करते हो। वे सब मारवाड़ी हैं, फिर सुकुलाइनजी बड़ी नकसिकोड़ हैं।"

मैं अड़ गया—"मैं भी जानता हूँ शुक्लजी को। सुकुलाइन को तब तक जानने की ज़रूरत नहीं, जब तक शुक्लजी जानदार और जानकार हैं। रहा मारवाड़ी। वह नई दिल्ली में बँगला रखता है, तो ज़रूर बड़ा व्यापारी होगा। बड़ा व्यापारी होगा, तो

जरूर ब्लैक-बाजारी होगा। एक ब्लैक-बाजारी को कोई हक़ नहीं कि वह मेरी मयख्वारी पर तानाकशी करे।"

"मगर, मेरी मानो," वर्माजी ने आपसाना दिखाया—"वहाँ पहुँचते ही हम तुम्हें किसी होटल या 'बार' (मद्यालय) में पहुँचा देंगे—वादा करते हैं।"

और मैं चुप रहा। आधा घंटा से कम न लगा होगा हमें स्टेशन से नई दिल्ली के उस बँगले तक पहुँचने में। फाटक पर ही सावधानी से ताँगे से उतर, वर्माजी अकेले बँगले में घुसे। उन्हें अंदर १०-१५ मिनट लगते देख मेरे कल्पनाशील मन में विरोधी विचार उठने लगे। इतने में वह बाहर आए, उत्साह-हीन—"मारवाड़ी तो यहाँ से चला गया। बँगला उसके भाई ने छीन लिया है, अपना हक़ साबित करके। शुक्लजी कहाँ हैं, कोई ठिकाना नहीं।"

अब? वर्माजी ने सुनाया कि वह श्रीनवीनजी के यहाँ चले जायँगे। शुक्ल रुद्रनारायण ने अपने किसी काका का स्मरण किया। "लेकिन मैं कहाँ जाऊँ?" मैंने कहा—"इस रात में मुझे किसी का भी पता चलेगा कैसे?" तय यह पाया कि किसी होटल में जगह तलाशी जाय। और हम लगे होटल ढूँढ़ने। अब रात के १०½ बज रहे थे। एक होटल में जगह नहीं, दूसरे में नहीं, तीसरे में भी नहीं। नई दिल्ली के होटल में भी जगह न मिली। फिर वर्माजी ने 'नवीन' को याद किया, रुद्रनारायणजी ने अंबिका काका को। मैं सोचने लगा कि आखिर मैं किसे याद

करूँ ? परमात्मा को ! पर नई दिल्ली पर उनका क्या जोर ! परमात्मा केवल स्वर्ग में आसानी से जगह रिजर्व करा सकते हैं। पृथ्वी पर उनका कोई जोर नहीं। ताँगा खड़ा, सभी मुझे लेकर सोचते। अब मुझे पं० सत्यदेव विद्यालंकार की याद आई कि वह किसी हनूमान-लेन में हैं। नंबर याद आया ५, लेकिन वह रहते ४० ए में, सो, एक घंटा और हम परेशान हुए, और सत्यदेवजी का स्थान भी न मिला। अब परेशानी सबके चेहरे पर नाचने लगी। आखिर ताँगेवाले ने विश्वास से कहा कि पुरानी दिल्ली में किसी-न-किसी होटल में जगह जरूर मिल जायगी। कोई दूसरा चारा नहीं था। हम पुरानी दिल्ली आए। बारे दो-तीन होटलों के द्वार खटखटाने के बाद एक में जगह मिल ही गई। देर इतनी हो गई थी, सर्दी इतनी तेज थी कि अब न तो वर्माजी ने 'नवीन' के यहाँ जाना चाहा, न दूसरे मित्र ने अपने काका के यहाँ। तीनों ही होटल में ठहरे। इसकी सबसे ज्यादा खुशी मुझे। शुक्लजी को तो यों भी मैं नहीं छोड़ रहा था। अपरिचित दिल्ली में अकेले होटलवास में मुझे विपत्ति की संभावना सूझ रही थी। खैर।

बिस्तर अभी रक्खे ही जा रहे थे कि मैंने होटल के 'ब्वाय' से पूछा कि,

"शराब मिलती है ?"

"होटल में तो नहीं है बाबूजी, बाहर से ला सकता हूँ।"

"बाहर से सही, दो पेग मेरे लिये।" वर्माजी की तरफ मैंने देखा। उन्होंने कहा—"एक मेरे लिये भी।"

मगर अंततोगत्वा सुरा हमें नहीं ही मिली। 'ब्वाय' गरजू समझकर अधिक पैसे ठगने का रूपक बाँधने लगा, तो हमने तौबा कर ली। और जो कुछ होटल में मिला—चपाती, सब्जी, कबाब, उसी से काम चला लिया गया।

और दो छँटे आदमी संग होने तथा पास में कोई खास रक़म न होने पर भी अपरिचित होटल पर मेरा विश्वास न जमा। मैंने सोने के पहले दरवाज़े की जाँच कर मित्रों को संदेह सुनाया कि किधर से रात में कोई घुस सकता है। पर दिल्ली और होटलों से परिचित दोनो ही दोस्तों ने मुझे बतलाया कि कोई डर की बात नहीं। इतने पर भी जब एक बंद दरवाज़े को सुदृढ़ करने के लिये मैंने उसके सामने एक मेज़ और उस पर कुर्सियाँ रक्खीं कि बाहर से कोई आना चाहे, तो चीजें भड़भड़ाकर गिर पड़ें, तो दोनो मित्र ठहाका मार हँस पड़े मेरे काल्पनिक भय पर!

"नाम ही 'उग्र' है। बस, देख लिया।" रुद्रनारायण ने मधुर ताना दिया।

मैंने कहा—"अपरिचित जगहों में मैं रात में लड़की बन जाता हूँ। सुबह हुई कि यार खाँ फिर वही तीस मार खाँ।"

वर्माजी और रुद्रनारायणजी सबेरे ५½ बजे तक खर्राटे लेते रहे, बिना पिए ही। पीने पर भी हमेशा ३ बजे रात मेरी नींद खुल जाया करती है, और उठते शौच-स्नान में लग जाता हूँ। मगर १३ दिसंबर को पौने चार बजे सबेरे टब में ठंडा पानी भरकर दिल्ली में नहाने में मजा ही आ गया।

(३)

होटल बुरा नहीं था। सवेरे हमने तय किया कि कोई मित्र न भी मिला, तो हर्ज नहीं; जितने दिनों दिल्ली में रहना है, होटल ही में गुज़र कर लेंगे। फिर ८-८॥ बजे परिचितों की तलाश में हम पुरानी से नई दिल्ली चले। वर्माजी ने फिर उसी मारवाड़ी के बँगले पर चलकर शुक्लजी का पता लगाने का निश्चय किया। इस बार एक-दो युक्तप्रांतीय पुराने नौकर मिल गए। उन्होंने बतलाया, शुक्लजी आजकल 'सेंट्रल कोर्ट' होटल में उस मारवाड़ी विशेष के साथ रहते हैं। होटल में पहुँचने पर पता चला कि शुक्लजी कहीं बाहर गए हैं, पर मारवाड़ी सेठ के दोनों लड़के हैं। दोनों लड़के वर्माजी के कलकत्ते से ही परिचित, खास कर छोटा। वह उस वक्त था। उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की वर्माजी को देखकर। मैं 'उग्र' हूँ, यह जानकर उसे और भी ख़ुशी हुई, ऐसा उसके चेहरे पर खुला। यह सुनकर कि रात में हमें जगह मिलने में बड़ी परेशानी हुई, उसने कहा कि, "आप यहीं क्यों न चले आए? लाइए बिस्तर वग़ैरह। किस होटल में ठहरे हैं आप?" वर्माजी ने कहा कि अब जब आपका पता चल गया, तो सामान 'सेंट्रल कोर्ट' होटल उठवा लाने में देर न होगी। मारवाड़ी तरुण ने मेरे लिये भी टेलीफ़ोन कर शर्माजी का पता लगाया। वह भी कहीं गए हुए थे। मैंने कहा—"तब तक मैं एक-दो दोस्तों से मिल-भेंटकर लौटता हूँ। मैं ठीक चार बजे लौटूँगा।"

हाँ, यह लिखना मैं भूल गया कि उक्त बातों के बीच वर्माजी ने उस अमीर के तरुण लड़के को प्रसन्न करने क़ाबिल कितनी बातें कीं, कितनी आत्मीयता दिखाते हुए। यहाँ तक कि नया बँगला बनवाने के लिये दिल्ली में प्लाट तक दिलवाने का दिलासा बँधाया, इस स्पष्ट बूते पर कि अधिकारी-विशेष से उनकी काफ़ी यारी है। और मुझे लगा, (दही) बड़े साहित्यिक यों ही सफ़ेद चिकनाई में पूँजी-पुत्रों को लपेट लिया करते हैं।

और साहब, ईजानिब कुछ कम्यूनिस्ट नहीं। ख़ुदा झूठ न बुलाए, मुझे चमक पसंद है। चमकीला होता है, इसलिये धनिक को पसंद करता हूँ, चमकीली होती है, अतएव वेश्या को। भगवान् के सामने इसीलिये मस्तक झुकाता हूँ कि वह चमत्कार-पूर्ण हैं। धनिक बिना कमाए माल दे सकता है, बिना विवाहे वेश्या दे सकती है यौवन, भगवान् पाप-पुण्य से उदासीन होने से लाख अपराध करने पर भी मुक्ति दे सकते हैं। मानें कि मैं ऐसों ही को चाहता हूँ, जिनसे फोकट में वे वस्तुएँ मिल जायँ, जिन्हें ईमान से कमाने में कसाला पड़ता है। लेकिन भगवान् की कृपा से धनवान् से माले-मुफ़्त और वेश्या से असंस्कृत-संयोग जब-जब प्राप्त हुआ, तब-तब धन के साथ आत्मपातक योग आया और सुंदरी के कंचन-तन के साथ भयंकर रोमांचक रोग। और, भोगने पर खुला कि न तो फोकट में धन मिला, न यौवन। सारे खेल उसी की खोपड़ी पर, जिसने माया का मजा मुफ़्त में चाहा। आदमी का चमड़ा गधे की तरह कड़ा हो, चाबुक खाने

पर भी निशान न उभरें, यह और बात, पर किसी-न-किसी तरह माले-मुफ्त की क़ीमत चुकानी ही पड़ती है। इसी असांसारिक बुद्धि में पड़ पिछले काफ़ी दिनों से मैं पूँजीपति और वेश्या, दोनों ही से सावधान रहने लगा हूँ। पर, यदि यह कहूँ कि आज भी उन दोनों का आकर्षण मेरे हृदय से गया नहीं है, तो ठीक। इसीलिये चाहूँ एक को भी नहीं, पर मौक़ा पाते ही चकराने लगता हूँ दोनों की गिर्द। और फिर, दोनों ही के दुर्गुण देखे, दोनों की आलोचना करता हूँ, दू-ब-दू ताने कसता हूँ, और इमारत या सूरत की मीठी मलाई या मलाहियत में एक खासी खटास पैदा कर देता हूँ—बदमज़गी के क़रीब। कुल मिलाकर कहूँ, तो मेरा 'डेवलपमेंट' इसी हद तक अभी हुआ है—और मैं पूरी आधी सदी का! वही, जिसे ज्ञानी लोग 'इत्त का न उत्त का' कहते हैं।

चार बजे मैं सेंट्रल कोर्ट होटल पहुँचा, तो वह मारवाड़ी तरुण एक दूसरे लंबे, खद्दर-सूटधारी तरुण से बातें कर रहा था। मैंने पूछा—'शर्माजी का पता लगा?"

"शर्माजी?" उस मारवाड़ी ने मेरी तरफ़ ऐसी सादी—याने अर्थ-हीन, याने अपरिचित—नज़र से देखा, जिसमें सुबह की जान-पहचान की क्षीण रेखा भी नहीं थी। मुझे मन-ही-मन बहुत बुरा लगा। 'उग्र'जी के अहंकार को ठेस लगी—हाँ। मैंने कहा—"मैं 'उग्र' हूँ। सबेरे वर्माजी के साथ आया था, आपने लालजी को फ़ोन करने को कहा था।"

"ओ हो ! लालजी अभी तो नहीं—नहीं आए।"

"वह आवें, चाहे झख मारें, उनके आने का आग्रह नहीं," शर्माजी के व्याज से पूँजीपति-पुत्र के सामने मेरा विरोधी स्वभाव खुला—"मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह दिल्ली में हैं या नहीं ?"

"हैं साहब, आप मेरे साथ चलिए।" उस लंबे, खद्दरधारी तरुण ने कहा, जो पूँजी-पूत से बातें कर रहा था मेरे आने के पूर्व।

"हाँ-हाँ," उत्साह से मारवाड़ी बोला—"यह आपको शर्माजी से बिलकुल मिला देंगे।"

और, राह में मालूम हुआ कि वह खद्दरधारी तरुण श्रद्धेय डॉ० राजेंद्रप्रसाद के एक पर्सनल असिस्टेंट थे, और वह और शर्मा या लालजी लोधी-कॉलोनी में, एक ही ब्लाक में रहते थे। लालजी मिल गए राजेंद्र बाबू के औरंगजेब-रोड स्थित बँगले पर ही। और, अब जाकर दिल्ली में मैं सहज स्वभाव में आने योग्य हुआ, जब एक बिलकुल विश्वासी अपना आदमी मिल गया। सेंट्रल कोर्ट होटल बड़ा अच्छा, मगर झख मारे अच्छा होटल—एक अच्छे, विनीत मित्र की कोठरी के मुक़ाबले में। लालजी के पास तो फ्लैट था, रेडियो था, टेलीफोन था, और देसी पाखाना नहीं, साहबी 'कमोड' था।

और, लालजी भी शुक्लजी के कारण उक्त अमीर लड़कों के दोस्त। मिलते ही मैंने मारवाड़ी की सादी आँखों की शिकायत

की, और कहा—"इन पूँजीपतियों की आँखों में एक अजीब तोते-चश्मी नजर आती है।"

दूसरे दिन सेंट्रल कोर्ट होटल में मैं अपना सामान देखने लालजी के संग गया, तो वहाँ मारवाड़ी का बड़ा लड़का, वर्माजी, शुक्ल रुद्रनारायण वग़ैरह तीन होटली पलंगों पर विराजे हुए थे। हम दोनों वर्माजी के ही निकट बैठ गए। यों ही गप्पें लगने लगीं। इसी वक़्त वह छोटा मारवाड़ी-पुत्र आया (वर्माजी का यार)। वह ऊनी स्वेटर के नीचे क़मीज़ और गरम पतलून पहने हुए था। यह भी हमने तब देखा, जब वर्माजी ने उपालंभ के स्वर में उससे कहा—

"अरे यार, नंगे पाँव घूम रहे हो? सर्दी लग जायगी। मोजे तो पहन लो।"

देखिए तो, वर्माजी के उक्त कथन में बुरा लगने की कोई बात नहीं, पर मैं बुरा मान गया। सबको सुनाते लालजी से मैंने कहा—

"अब तुम्हीं कहो लालजी, मैं और वर्माजी एक जगह कैसे रह सकते हैं। मेरी निगाह धनिक की वेश्या-सी सादी, तोतेचश्मी आँखों पर, और इनकी नजर उसके खुले क़दमों पर!"

और, वर्माजी नाराज़ नहीं हुए। धनिक लोग ख़ुश होने पर गंभीर रहते हैं और नाराज़ होने पर मुस्किराते। दोनों मारवाड़ी तरुण इसी रंग में रहे। वर्माजी ने सफ़ाई दी—"वह मेरा

दोस्त है, उसे सर्दी हुई है, ऐसी हालत में मोजे पहनने की सलाह देने में बुराई क्यों हो ?"

और, मुझे उस्ताद ग़ालिब का शेर याद आया—

कहा तुमने कि क्यों हो ग़ैर से मिलने में रुसवाई ;
बजा कहते हो, सच कहते हो, फिर कहियो कि हाँ क्यों हो ?

होशियार—पागल

लो! मैंने कहा था न कि 'निराला' पागल नहीं है। वह होशियारी में पूरा कनौजिया है। यू० पी०-सरकार ने उसे २१सौ रुपए दिए, उसने उन रुपयों को 'मतवाला'-मंडल के स्वर्गीय प्रसिद्ध सदस्य मुंशी नवजादिकलाल के चिरंजीव पुत्र को दान दे दिया! मैं इसे दान नहीं, होशियार-आत्मविज्ञान-विधि मानता हूँ, और मैं इसे दान नहीं, समाज से असंतुष्ट कलाकार का बदला लेना मानता हूँ। दूसरी बात यह कि मुट्ठी-भर चाँदी के टुकड़ों पर सरकार ने अपना विज्ञापन करना चाहा था, पर मियाँ की मियाँ के ही सर पर जड़कर कलाकार ने अपना विज्ञापन कर लिया।

यू० पी०-सरकार के पुरस्कारों के बारे में कई क़िस्से हैं। एक क़िस्सा लखनऊ में मुझे पुरस्कृतों में से एक चमरू कलाकार ने सुनाया कि एक मिनिस्टर के यहाँ दावत खाते हुए उसने उनके श्रीमुख से सुना कि 'निराला' को तो २१ सौ मिनिस्टर साहब ने दिलवाए, वर्ना महादेवी वर्मा तक ने इतनी बड़ी (?) रक़म देने की सलाह नहीं दी थी! इस पर जब मैंने चमरूजी से मिनिस्टर-मुख से सुनी बातें ज़रा स्पष्ट करने को कहा, तो वह ताड़ गए, और कहने लगे कि ऊँचा सुनने के कारण उन्होंने कुछ

भी नहीं सुना था, और फलाँ पंडित की बताई हुई कहानी मुझे बतला रहे थे। मैं नाराज़ हो गया, उक्त मंद लेखक के स्वार्थ-भीत दुरुखे आचरण से। पर 'निराला' ने उक्त रंग से प्राप्त रक़म अपने स्वर्गीय संगी मुंशी नवजादिकलाल के पुत्र को देकर अपने सुयश में चार चाँद लगाते हुए भी एहसान करनेवाले मेहरबानों का मुँह फीका कर दिया। और, ऐसे उस्ताद को लोग पागल समझते हैं, सो भी तब, जब 'निराला' की होशियारी का छंदोबद्ध प्रमाण उसकी विविध कलाकृतियाँ सबके सामने हैं! ऐसे ही वक़्तों पर मुझे ऐसा लगता है कि कम-अक़्ल या प्रतिभा-हीन लोग प्रतिभाशाली कलाकारों से चिढ़कर ही उन्हें पागल या ग़ैर-ज़िम्मेदार बतलाकर स्वयं को गौरवान्वित समझते हैं।

'निराला' और नवजादिकलाल-संबंधी दो क्षुद्र घटनाएँ इस वक़्त मुझे याद आती हैं। एक घटना स्वर्गीय महादेव बाबू से सुनी, और दूसरी आप-बीती है। महादेव बाबू ने शिकायत नहीं, मज़ाक़ की मूड में यह क़िस्सा मुझे सुनाया था। मगर क़िस्से का मज़ा लेने के पहले भूमिका उसकी यह कि 'मतवाला'-मंडल के मालिक महादेव बाबू थे, पर 'बड़े बाबू' मुंशी नवजादिकलाल कहलाते थे, सेठजी 'छोटे बाबू' थे। और, इस 'बड़े बाबुअत' का रक्षा मुंशीजी सावधानी से करते थे। 'निराला' की प्रतिभा और मस्ती पर छोटे बाबू का मुग्ध होना बड़े बाबू को सोहाता नहीं था। अतएव ऊपरी आव-भगत रहने पर भी 'निराला' और

नवजादिकजी में आभ्यंतरिक सौहार्द से ज्यादा संकुचित स्पर्द्धा ही थी।

एक दिन मुंशीजी ३६ नं० शंकर घोष-लेन, कलकत्ता, 'मतवाला'-कार्यालय में विराजमान थे, सेठाऽसन पर, कि डाकिया डाक लेकर आया। साथ ही पीछे ही लगे आए 'निराला,' जो उस वक्त वहीं रहते भी थे। आप जानते हैं, डाक लेने और खोलने में भी एक आकर्षण होता है, नवबुद्धिमानों के लिये। कई तो अपनी डाक दूसरों द्वारा छुई जाने पर ऐसे चमकते हैं, जैसे परपुरुष द्वारा धर्म-पत्नी या प्रेयसि के स्पर्श किए जाने से। स्वयं मैं डाकिए से जिस तरह ललककर डाक लेता हूँ, उस तरह से अन्नपूर्णा के हाथों से भोजन की थाली भी नहीं।

मुंशीजी को डाकिए के पीछे महाकवि का आना अच्छा न लगा, पर बोले वह कुछ नहीं, महज 'निराला' की ओर असंतोष से देखकर रह गए। डाकिया मेज पर पैकेट रखता जा रहा था, और 'निराला' तथा मुंशीजी ताड़ रहे थे कि उसमें आकर्षक वस्तु क्या है? प्रायः एक साथ ही दोनों के पंजे डाक की तरफ बढ़े, और संयोग! दोनों को एक ही पैकेट पसंद आया—साहित्य-महर्षि पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' का। मुंशीजी ने अपनी तरफ खींचा लक्ष्मी (कुर्सी) के बल पर, 'निराला' ने खींचा अपनी तरफ शक्ति के बल, बीच में बेचारी 'सरस्वती'। इस एकांकी नाटक का अंतिम डायलाग

'निराला' ने कहा था कि—"हिम्मत हो, तो आफ़िस से बाहर निकलकर हाथ मिलाओ।"

दूसरी घटना भी कलकत्ता ही की। 'निराला' ने मुझे वेश्यालय देखने का निमंत्रण दिया। यह बात सन् २८ की होगी। इसके पूर्व मैंने काशी की वेश्याओं की मजलिसों और कोठों पर काफ़ी गाने सुने थे। कलकत्ता में वेश्यालय जाने का यह पहला ही मौक़ा था। पर चलने के पहले 'निराला' ने अपना खीसा टटोला, तो उसमें पाँच पैसे भी नदारद। "मगर ठहरो।" 'निराला' ने मुझसे कहा—"तुम चुप रहना, रुपए मैं मुंशीजी से लेता हूँ।"

"मुंशीजी!" दफ़्तर में पहुँचकर 'निराला' ने कहा—"बँगला में एक बहुत ही बढ़िया नाटक निकला है। उसका अनुवाद हिंदी में अंधाधुंध बिकेगा। आप रुपए दें, तो एक प्रति ख़रीद लाऊँ।"

"क्या नाम है नाटक का!" पूछा, प्रसन्न मुंशी नवजादिकलाल ने।

"गैरिक पताका" अगर मैं भूलता नहीं—'निराला' ने कहा, और उसकी क़ीमत बतलाई रुपए दो—मात्र! मुंशीजी ने रुपए उसी वक़्त दे दिए, और हम चले सोना-गाछी या रामबान वेश्या-दर्शन के लिये। सब चार संगी—मगर रुपए वे ही दो! 'निराला' बने 'केप्टन', याने हमारे अभियान के फ़ाइनेंसर। पहले उन्होंने तमोली की दूकान से दो सिगरेटें लीं—हाथी मार्का और एक ख़ाली डिब्बी माँगकर उसमें उन्हें यों जमाकर रख दिया कि देखनेवाले को भरी डिब्बी का शेष मालूम पड़े! और,

वेश्या मुहाल में पहुँचकर वह हमें एक चौमंजिले की तीसरी मंजिल में ले गए। उनके खटखटाने पर एक दरवाजा खुला, और साँवले रंग की, बेनमक, एक अधेड़ बंगालिन वेश्या सस्ती सूती साड़ी पहने सामने आई। परिचित दुआ-सलाम के बाद, जेब से सिगरेट की डिब्बी को डगलस फ़ेयरबैंक्स (सीनियर) की अदा से निकालकर उन्होंने एक उसे देकर दूसरी अपने होठों पर रक्खी। फिर दियासलाई चेताकर, पहले वेश्या के मुँह में आग लगाकर फिर महाकवि ने स्वयं को सुलगाया। वेश्या के दरवाजे पर 'धुएँ' का झीना पर्दा लटक गया, जिसके अंदर उसकी बदशक्ल चुड़ैल या भुतनी-सी सुशोभित!

काली माई की कृपा से उस समय वह किसी दूसरे ग्राहक की सेवा में मुस्त थी, और हमें नीचे उतर आना पड़ा। कैप्टन 'निराला' की दो सिगरेटें क्रिकेट के 'नो बाल' की तरह व्यर्थ गईं।

उक्त अनुभव बतलाने के व्याज से मैं यह दिखाना चाहता था कि आज से २१ वर्ष पहले पिता नवजादिकलाल से दो रुपए ऐंठनेवाला महाकवि 'निराला' आज पुत्र नवजादिकलाल के सामने २१०) रुपए नजर करता है! और—

ज़मीने-चमन गुल खिलाती है क्या-क्या;
बदलता है रँग आसमाँ कैसे-कैसे।

आदरणीय श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

भले ही आज मुझे "बहुत प्रीति पुजाइबे की, पूजिबे की थोरि" हो, पर मेरे पूज्य गुरु पाँच हैं—जिनके शुभ नाम हैं १. लाला भगवानदीन, २. पंडित बाबूराव विष्णु पराड़कर, ३. पंडित श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, ४. पंडित काशीपति तिवारी और ५. पंडित उमाचरण पांडेय 'त्रिदंडी'। इनमें सब कुछ चाहे किसी ने न दिया हो, पर कुछ-कुछ सबने दिया है; सो, "को बड़-छोट, कहत अपराधू" हो सकता है। इस लिस्ट में राम और तुलसीदास के नाम इसलिये नहीं जोड़ता हूँ कि राम जगद्गुरु हैं, और तुलसी हैं—"राम से अधिक राम कर दासा।"

उक्त पाँचों महाजनों में से तीन को तो हिंदीवाले जानते हैं, पर अंतिम दो को उतना नहीं; जिनमें पहले पंडित काशीपति त्रिपाठी, अग्रज हैं श्रीकमलापति के, और दूसरे 'त्रिदंडी'जी स्वयं मेरे बड़े भाई हैं। 'त्रिदंडी'जी से मुझे लिखने का शौक़ मिला, काशीपतिजी से सहृदयता, 'दीन'जी से दृष्टि, पराड़करजी से राह और पालीवालजी से उत्साह। कहा न, सब कुछ किसी ने नहीं दिया हो, पर कुछ-कुछ दिया सबने, और हिंदी में एक 'वजन' पैदा हो गया। "दस की लकड़ी, एक का बोझ।"

'दीन'जी ने मुझे कुछ भी नहीं सिखलाया, पात्रता ही नहीं,

थी मेरी उनसे कुछ सीखने की ; सो, मैं केवल दरबारदारी करता था। वह समझदारों को भक्ति विभोर-भाव से 'विनय-पत्रिका' पढ़ाते, मैं सुनता। पर उसे सुनने से ही मेरी इकाई की क़ीमत दसगुनी बढ़ गई।

पंडित काशीपति त्रिपाठी सारे संसार की सुगंध अपनी नाभि में रखकर भी वन, तरु, लता, बिल की खाक छाननेवाले कस्तूरी-मृग हैं, जिनसे मेरे-जैसे आधे दर्जन छोकरे मस्त, कला-परस्त बने होंगे ; जिनमें कमलापति, रामनाथ 'सुमन', लक्ष्मीनारायण मिश्र नाटकी और जगन्नाथ शर्मा 'प्रोफ़ेसर' मुख्य हैं।

पराड़करजी का एहसान भुलाया नहीं जा सकता, जिन्होंने न-जाने क्या पहचानकर मेरी पहली कहानी 'गांधी-आश्रम' 'आज' में छापी थी। उस कहानी की भी एक कहानी है। तब ज्ञानमंडल 'गुरुधाम' में था, और 'आज' के संपादक-मंडल में बड़े-बड़े अलाकला-धारी थे। मुझे भाषा-व्याकरण-साहित्य-कला की कोई भी तमीज़ न थी। फिर भी कहानी लिखकर दी मैंने बाबू हरिहरनाथ बी० ए० को, जो 'आज' के सहृदय सहकारी थे। उन्होंने कृपा-पुलकित उसको प्रधान संपादक श्रीश्रीप्रकाशजी के सामने पेश कर दिया, जिन्होंने यह सुनकर कि वह एक छोकरे की लिखी थी, बिना पढ़े ही इस 'रिमार्क' के साथ रद्दी की टोकरी में फेंक दिया कि—"'आज' छोकरों की रचनाओं के लिये नहीं है।" मैं मारे ग्लानि के अपने काका श्रीछविनाथजी पांडेय की कोठरी में जा छिपा! छविनाथजी उस समय ज्ञान-

मंडल के व्यवस्थापक थे। पर लड़के का दिल न टूट जाय, इस मोह से हरिहरनाथजी ने प्रकाशजी के चले जाने पर उस कहानी को सँभालकर दूसरे दिन श्रद्धेय पराड़करजी के सामने रख दिया, और उन्होंने बिना यह पूछे कि रचना किसकी है, उसे 'पास' कर दिया। 'आज' की पुरानी फ़ाइल में अट्ठाईस वर्ष बाद आज भी उसे देखा जा सकता है—'शशिमोहन शर्मा' के नाम छपी। तब बेचन—पांडेय बेचन शर्मा—'उग्र' नहीं हुए थे। पराड़करजी ने मुझे जिला लिया। साहित्य के जगमग मग पर मैं डगमग पग चल डगरा।

पालीवालजी उन्हीं दिनों 'प्रभा' के प्रतिभाशाली संपादक थे, जिसमें कभी-कभी मेरी नगण्य तुकबंदियाँ भी छप जाया करती थीं। फिर मेरी एक कहानी उनकी सेवा में गई—'ध्रुव धारणा', जिसको स्वीकृत करते हुए अपने ब्रह्माक्षरों में एक ऐसा लंबा-चौड़ा, उत्साह-भरा पत्र उन्होंने लिखा, जिसने काच को सुवर्ण बना दिया। उन्होंने मुझे बहु तअच्छा लेखक माना—ऐसा, जिसकी 'तलाश में' वह थे। और अट्ठाईस बरस पहले उसकी दक्षिणा भेजी थी उन्होंने अट्ठाईस रुपए। तब 'आज' से मुझे दस आने कालम बिसाई मिलती थी! और एकाएक मेरी प्रतिभा का पारा जीरों से सौ डिग्री पर पहुँच गया।

पालीवालजी के प्रथम दर्शन मिले सन् २३ में। साहित्य-सम्मेलन के समारोह में मैं लाला भगवानदीनजी के दल के साथ वहाँ पहुँचा था। भेंट हुई 'प्रताप'-कार्यालय में। दिवंगत गणेशजी

के जेल में होने से 'प्रताप' का संपादन पालीवालजी ही कर रहे थे। वह कुर्सी पर बैठे थे, और 'नवीन' दाहनी तरफ़ खड़े। पालीवालजी ने दोस्ताना अदा से उनसे कुछ गाने की फ़र्मायश की, और 'नवीन' बाएँ हाथ से उनका दाहना कान पकड़कर गा चले! क्या गाया भाई 'नवीन' ने, मुझे याद नहीं; याद इतनी ही रह गई है कि यह शख़्स कान पकड़नेवाले धृष्ट गुणवान् को भी पहचानकर मान दे सकता है! यह कमाल हमारे हिंदी-साहित्य में आज भी केवल पंडित श्रीकृष्णदत्त पालीवाल का हिस्सा है; जब कि वह अकिंचन संपादक नहीं, स्वदेश-सेवा की आग में अच्छी तरह तपे हुए कंचन राजस्व और सूचना-विभाग के माननीय मंत्री भी रह चुके हैं। मुझसे कोई पूछे, मैं झूठ नहीं कहता। तब से आज तक हज़ार बार नितांत नालायक़ ढंग से मैं उनसे लड़ता-झगड़ता रहता हूँ, और वह हैं कि मुस्किराते, दया बरसाते जाते हैं। यही स्वभाव तुलसीदास ने अपने राम का 'विनय' में लिखा है—"सुनि सेवा सही को करै, परिहरै को दूषन देखि।" पद में।

आप लोगों में से कुछ मित्र—जिन्हें मैंने बतलाया है कि आज भी पालीवालजी मुझे लाखों रुपए क़र्ज़ काढ़कर देने को तैयार है कि मैं कुछ ठोस काम कर आदमी बनूँ—कहेंगे कि चापलूसी कर रहा हूँ मैं। पर ऐसी बात नहीं, लाखों का धंधा मुझसे हो नहीं सकता। मेरे हाथ में छलनी-से छेद हैं, जिनमें संसार-छलिनी लक्ष्मी ठहरती नहीं। आज भी वह दूध से भरा

चाँदी का कटोरा लिए स्नेह से मेरे सामने खड़े हैं, मैं हूँ कि हाथ-पाँव फटकारता, छैलाता, छलकाता चला जा रहा हूँ। चापलूसी तो आज सारा सूबा कोई-न-कोई मंसूबा बाँधे उनके आगे कर रहा है—और उचित। अनुचितकर्मा मैं ही एक। "ऐसी हठ जैसी गाँव पानी परे सनकी।" इसे जो न माने, वह बेईमान है—हाँ।

पालीवालजी का एक चित्र और मुलाहज़ा फ़र्माइए। गत २ दिसंबर को आपके दर्शनार्थ मैं लखनऊ गया था। "मान न मान, मैं तेरा मेहमान" बनकर बिना जान-पहचान ठहर गया 'अधिकार'-कार्यालय में, अधिकारी संपादक पंडित रामरूप पांडेय के यहाँ। उन्होंने मेरी ओर से राजस्व-सूचना-मंत्री को टेलीफ़ोन किया, तो तुरंत उत्तर मिला कि १ बजे दिन में मैं सेक्रेटरियट में मिलूँ। ठीक समय पर पहुँचा मैं वहाँ, तो माननीय मंत्री के दरवाज़े बंद थे, और बाहर रक्तांबरी पहरी खड़े। मेरे पास नामी कार्ड नहीं, बढ़िया कपड़े तक तन पर नदारद। पहरी ने कहा—"बैठो, जब मामूलियों का नंबर आएगा, अंदर जा पाओगे।" और—

बंदगी में भी वह आज़ाद, वह ख़ुदबीं हैं कि हम—
उलटे फिर आए, दरे काबा अगर वा न हुआ!

'ग़ालिब' का यह शेर पसंद करने पर भी मैं १½ घंटे बाहर बैठा रहा। वैसे ही, जैसे ड्यूक ऑफ़ विंडसर उस औरत के दरवाज़े पर बैठे रहा करते थे, जिसके लिये सल्तनत तक छोड़ दी थी। इस

बीच में मैंने गांधी टोपी लगाए प्रांत के अनेक राजनीतिक मुखिया तक को अंदर जाते-आते देखा। चाहता, तो जरा ही उग्रता दिखाने से मेरा भी प्रवेश हो सकता; पर स्वराज्य होने के बाद 'कॉमन मैन' बनना ही मुझे पसंद। खैर, डेढ़ घंटे बाद चार आदमियों के साथ चपरासी ने मुझे अंदर दाखिल होने की आज्ञा दी। अंदर देखा, पालीवालजी गर्दन झुकाए, कुर्सी पर बैठे, टेबुल पर रक्खे कागज-पत्र देख रहे थे। दरिद्रों-सा रूखा माथा, चर्चिली नाक, शेर-सी मूछें और दाढ़ी। बाईं तरफ़ श्रीजगन-प्रसाद रावत और एक कोई सज्जन और बैठे थे। मैं फिर भी दबका ही रहा—प्रार्थियों की पंक्ति में तीसरा। बाल छँटे होने से किसी ने भी पहचाना नहीं—अपने राम को। क्षण-भर हमें मौन देख पालीवालजी की बाईं तरफ़वालों ने ललकारा—"कहो, कहो।" यानी अपनी गुजारिशें पेश करो। पहले तरुण ने अपनी कहानी सुनाई—आश्वासन पाया, और बैठ गया। फिर दूसरे ने दुखड़ा गाया। अब आई मेरी बारी, तो उठकर, निकट जाकर मैंने कहा—"मैं तो 'उग्र' हूँ।" और तब जरा-सी चमक आई वातावरण में। नीचे से ऊपर तक मुझे निहारते, मंद मुस्किराते बोले वह—"तुम तो बड़े भले आदमी नजर आ रहे हो!" मैंने उत्तर दिया—"तभी तक, जब तक कर्म नहीं करता।" इसके बाद वहाँ और नौ बजे रात में बँगले पर जो बातें हुईं, वे व्यक्तिगत थीं, जिनका यहाँ लिखना व्यर्थ है।

काटजू और कल्चर*

क्या बंगाल के वर्तमान गवर्नर हिज़ एक्सलेंसी श्रीकैलासनाथजी काटजू कल्चर्ड या संस्कृत आदमी हैं, या अनकल्चर्ड असंस्कृत? क्या कांग्रेसी प्रजातंत्र में ऐसा प्रश्न बड़े-से-बड़े अधिकारी के बारे में किया जा सकता है? या ब्रिटिश राज की तरह आज भी बहुत-से लोग सीज़र की बीबी की तरह आलोचना से ऊपर हैं? ग्यारह दिनों से चित्तरंजन एवन्यू-स्थित श्रीविशुद्धानंद-विद्यालय के फाटक के कभी इधर और कभी उधर मैं एक पीड़ित प्राणी को देखता हूँ। वह औरत है, अस्सी साल की होगी—पसलियों से गिनिए, तो सौ की। और दया अगर मिलनी चाहिए, तो वह उसी की पात्री। और रक्षा अगर किसी के लिये हो, तो वह उसकी पहली हक़दार। पर मालूम पड़ता है, आजकल लोग गीता के प्रवचनों में दया-माया भूल गए। सहस्र-सहस्र आदमी उधर से आते-जाते रहते हैं। ज़रूर सबकी नज़र उस अभागिनी पर पड़ती होगी। ज़रूर सभी अंधे नहीं।

---

* यह लेख गत दिसंबर के दूसरे हफ़्ते में कलकत्ता के 'सन्मार्ग' में प्रकाशित हुआ था। फ़िलहाल उस महानगरी में जो बदअमनी है, उसका इशारा इस लेख में पाठक स्पष्ट देखें। —सं० म०

पर मैंने गत ग्यारह दिनों में एक दिन भी उसके सामने सही भोजन-सामग्री देखी नहीं। वमन की तरह बिखरे कुछ अन्न उसका भोजन, आसन चंद चीथड़े। दरिद्रों के घर की फेंकी फटी चटाई की चादर उसकी, खाकी भोमजामें का टुकड़ा ब्लेंकेट। वह जहाँ खाती, वहीं हगती, जहाँ सोती, वहीं रोती—रोने की ताक़त उसमें कहाँ? परकटी कबूतरी की तरह वह केवल कहँरती रहती है। कबूतरी की आवाज़ आप दूर से भी सुन सकते हैं, पर उसकी कराह सुनने के लिये विचित्र कंबल तक कान ले जाना पड़ेगा। कौन ले जाय? जाय कौन उस गंदगी के नज़दीक? मेरा ख़याल है, सौ में सौ आदमी उसकी तरफ़ देखना भी नहीं चाहते होंगे, इस त्रासक भाव से कि क्या आदमी की ऐसी गति भी बन सकती है। और एक विद्यालय के फाटक पर हमारे समाज के बालकों के बीच में वह कुदर्शन-फूलों के ढेर में वह मुर्दा। समाज कौन बना रहा है? कौन निगराँ है कलकत्ता का? कॉरपोरेशन का? कांग्रेस? काटजू? मुझे लगा कि मैं काटजू को जिम्मेदार मानूँ, उत्तरदायी सारी कुव्यवस्थाओं का। क्योंकि मैंने सुना था कि वह संस्कृत और संस्कृति के प्रेमी, प्रतिभाशीला, सुरुचि-संपन्न सहृदय सज्जन हैं। भारत के सबसे बड़े शहर की वर्तमान दुर्दशा की जिम्मेदारी सूबा बंगाल के सबसे बड़े अधिकारी के ऊपर नहीं, तो किस पर हो सकती है? ग्यारह दिनों से मेरा मानसिक स्वास्थ्य चौपट करने के गुनाह में गवर्नर काटजू को छोड़कर मैं किसका गला

पकड़ूँ ? खासकर तब, जब कि गवर्नमेंट ने कॉरपोरेशन को जब्त कर लिया है। कलकत्ता का 'ऑर्डर ऑफ़ दि डे' गंदगी है। अँगरेज़ियत की सफ़ाई नहीं हुई, और सफ़ाई की सफ़ाई हो गई। मुसलमान और मारवाड़ी-मुहल्लों में तो बदाबदी गंदगी। यों तो मुसलमान की गंदगी मांसाहारी और मारवाड़ी की फलाहारी; पर परिणाम में 'निर्विशेषावशेषः'—एक-सा। और, मैंने सुना, गवर्नर काटजू बड़े कल्चर्ड। और, मेरी राय है कि केवल एक दिन के लिये वह आवारगी अख़्तियार कर मेरे साथ मुसलमानी और मारवाड़ी-मुहल्लों का चक्कर काटें, और उन्हें चक्कर न आ जाय, तो मुझे फाँसी दे दें, बिना विचार किए ही। सब सुखी हों, आर्यों ने कहा, सभी बुद्धिमान् हों, सबके लिये जीवन और विकास के साधन प्रकाश, पानी, पवन की तरह समान और सहज हों, सभी संस्कृत और कल्चर्ड हों, तभी मानव-भविष्य सार्थक दिशा में लहरा सकेगा। कुछ लोग इतने गंदे रहेंगे, जितने कि उत्तरी कलकत्ता में हैं, तो किसी की भी ख़ैरियत नहीं, और दर्दनाक दुराचार, हत्याएँ, दुर्दमनीय दंगे होते ही रहेंगे।

और विशुद्धानंद-विद्यालय के फाटक की बाईं तरफ़ एक युवक अशोक-वृक्ष है। वह कल्चर्ड या संस्कृत है, ऐसा किसी ने कहा नहीं। सुबह, दोपहर, शाम, कभी भी संस्कृत-श्लोक उसकी साँसों से स्वरित होता सुनाई नहीं पड़ा। वह न तो सबेरे बाँग देकर 'अल्लाहो अकबर' कहता है, न तान लेकर 'रघुपति राघव राजा राम'। उसी तरुण, हरित अशोक के नीचे कई दिनों से वह

अधमरित शोक-राशि स्वतंत्र भारत की नागरी पड़ी हुई है। और पिछले कई दिन दारुण दुर्दिन—सर्दी में बरसात, कोढ़ में खाज; पर किसी ने भी उस अभागिनी की खबर न ली, एक उस तरुण अशोक को छोड़कर, जिसके नीचे वह वमन करती है, मल-मूत्र त्यागती है, गंदगी और दारिद्र्य फैलाती है, और फिर भी वह अपना साया उस पर से नहीं हटाता! विशुद्धानंद-विद्यालय के अंदर ज्ञान है, और बाहर अज्ञान!

सिंहल-विजय

बिहार के सुंदर और प्रसिद्ध साप्ताहिक 'योगी' के दीपावली-अंक में मित्रवर पं० रामवृक्षजी बेनीपुरी का एकांकी नाटक 'सिंहल-विजय' देखकर जी में आया कि इसे पढ़ना चाहिए। क्यों जी में आया कि उसे पढ़ना चाहिए? अक्सर मैं अखबारी या चलता साहित्य कम पढ़ता हूँ। जो कुछ पढ़ता भी हूँ, वह साहित्य की नब्ज़ देखने के लिये कम और 'मतवाला' की लीपा-पोती के लिये अधिक। फिर बेनीपुरी का एकांकी पढ़ने को मेरा मन राज़ी हुआ, तो क्यों? अपनी करतूत पर मन स्वयं गंभीरता जानने के लिये गौर करने लगा। तब परत-परत भेद खुलने लगा। अभी कई महीने पहले पटना-रेडियो से 'मैं कैसे लिखता हूँ' अनुभव-व्याख्यान-माला में श्रीबेनीपुरी ने अपनी बानगी पेश की थी। भाषा उछलती हुई, भड़कीली। और आज मुझे सिवा इसके और कुछ याद नहीं कि बेनीपुरी के इस आत्मवर्णन में सिवा दर्पोक्ति-दर्पोक्ति—और कुछ नहीं। और दर्पोक्तियाँ भी मेरे लेखे गंभीर नहीं। जैसे उनका यह कहना कि जब वह तकिया लगा, पान की गिलौरी दबा, सिगरेट का धुआँ उड़ाते हैं, तभी उनकी हंसवाहिनी उस धुएँ में उनके मस्तिष्क या दिल में नाचने लगती है।

और ख़ुदा गवाह है ! मैंने तीन हज़ार डिब्बे सिगरेट पिए, दो हज़ार बोतल शराबें, सौ-सौ पान रोज़ बीस साल तक खाए, मैदानों भंग में चर गया, बोरों गाँजे के दम मारे, और धुएँ की तो ऐसी-तैसी, आग की लपटें, चिनगारियाँ ज़मीन से आसमान तक तारा-पथ की तरह बिछा दीं ; पर मेरी सरस्वती हर्गिज़-हर्गिज़ इन जंजालों में फँसकर न आई। और बराबर हृदय-ही-हृदय फ़र्श से अर्श तक बिछाने का सत्याग्रह अवतरण के पूर्व करती रहीं। जब-जब हृदय उनके चरणों के नीचे बिछाने योग्य स्वच्छ न रहा, तब-तब सैकड़ों पान और सिगरेट और नशे बस धुआँ बढ़ाते रहे—किसी स्पष्ट दर्शन से रहित। सो, मुझे लगा कि 'मैं कैसे लिखता हूँ'-सीरीज़ में बेनीपुरी की दर्पोक्तियाँ चर्वित कुचर्वण और 'आउट ऑफ़ डेट' थीं। दोस्त के दर्प की ठंडी फुलझड़ी में दियासलाई लगाने का इरादा मेरा तभी हुआ था, मगर यह सोचकर शांत रह गया कि गंभीर वातावरण में फुलझड़ियों को महत्त्व देना भी तो मुनासिब नहीं।

अब समझा ! उस लेख के पढ़ने के बाद बेनीपुरी के लिये जो भाव पैदा हुए, उन्हें दबाने का परिणाम है 'सिंहल-विजय' पर यह अतिरिक्त नज़रे-इनायत। ख़ैर। 'योगी'-संपादक का 'सिंहल-विजय' के परिचय में यह लिखना कि "२० वर्षों तक राजनीति के बीहड़ वन में बेनीपुरी के भटकते रहने से हिंदी-साहित्य को कितनी क्षति हुई" आदि, मालूम नहीं, योग्य लेखक की स्तुति है या अस्तुति। जिस वन में १४ वर्षों वास कर अयोध्या के राजा

रामचंद्र ने 'राम-राज्य' क़ायम किया था, उसी वन में (बिहार) के 'महाराज' रामवृक्ष व्यर्थ सनकते रहे ! मैं समझता हूँ, रामचंद्र और रामवृक्ष में 'राम' तो 'कॉमन' है, सारा अंतर 'चंद्र' और 'वृक्ष' से ही पैदा हुआ होगा।

सिंहल-विजय

मेरी नज़र में 'सिंहल-विजय' नाटक के रूप में असफल ही नहीं, सर्वथा असफल है। मेरी नज़र में बेनीपुरी की सारी रचनाएँ अगर नष्ट कर दी जाएँ और एक 'सिंहल-विजय' ही बची रहे, तो उसे पढ़कर आज या कभी कोई भी विवेकी पछताएगा नहीं कि लेखक की दूसरी रचनाएँ नष्ट हो जाने से "हिंदी-साहित्य की कितनी क्षति हुई है!" विशेष कलाकार के प्रत्येक निर्माण में कोई ऐसी विशेषता होनी ही चाहिए, जिससे पढ़नेवाले को पता चल जाय कि यह तो फलाँ की ही हो सकती है। रेडियो पर अपनी चर्चा में कविवर बिहारी के आँकपन का इशारा बेनीपुरी ने किया, सो बुरा नहीं, पर अपनी इस कृति 'सिंहल-विजय' में बेनीपुरी का रंग वह न भर सके, यह पहली और बड़ी शिकायत है। 'सिंहल-विजय' पढ़ने से लगता है, जैसे लेखक को यह भी नहीं मालूम कि केवल कथोपकथन या संवाद और नाटक-निर्माण में अंतर क्या है। अतः 'सिंहल-विजय' नाटक से अधिक 'बकबक-विजय-'मात्र मालूम पड़ता है। नाटक तो क्या, हाँ, नौटंकी की उछल-कूद

इसमें है। राग-रंग वह भी नहीं! एक भी चरित्र क़ायदे से रच नहीं पाया है मशहूर लेखक! बौद्धकालीन प्लाट सँवारनेवाले को तत्कालीन साहित्य का समुचित ज्ञान है, ऐसा इस 'सिंहल-विजय' से नहीं नुमाया होता। दृश्यों की तरतीब देखने से यह पता नहीं चलता कि नाटककार के नज़्ज़ारों में कोई सुक़्म भी है। भाषा रानीमत होती हुई भी असावधान है, क्योंकि नाटकों की जान चुस्ती है चमकीली। तमाम नाटक में कुछ वाक्य-व्यूह, कुछ फ़ैरे अच्छे हैं, जो उचित ढंग से फ़िट न किए जाने से हृदय के भावों से अधिक 'कांटेशन' मालूम पड़ते हैं। मैं सच कहता हूँ, 'सिंहल-विजय' पढ़ने के बाद बेनीपुरी अपनी सारी रॉयल्टी मुझे जुआ खेलने के लिये देने को तैयार हो जायँ, तो भी उनकी दूसरी रचना पढ़कर मेरा बेफ़ुर्सत विवेक समाँखराशी को तैयार न होगा। पर, मैं समझता हूँ, 'सिंहल-विजय' हर्गिज़ उनका सर्वश्रेष्ठ नहीं, और जो है, उसे ज़रूर अभी मैंने नहीं देखा है। बेनीपुरी के लिये यह पक्षपात 'उग्र' के मन में—जो सिनेमा-सुंदरियों के लिये भी नहीं—यों है कि वह "हमपेशा व हम-मशरब व हमराज़ है मेरा"—साथी!

नौ वर्ष बाद मैं युक्त प्रदेश में

सेकेंड क्लास

'सेकेंड क्लास' के मुसाफिर की तरह यात्रा करने में इस बार बंबई से बनारस तक जितनी असुविधाएँ मुझे नज़र आईं, उतनी पहले कभी नहीं। जिस 'बोगी' में बैठकर मैं चला, वह इतनी पुरानी और ख़राब थी कि उससे तो थर्ड क्लास के डिब्बे भी बेहतर। मेरी नज़रों में 'थर्ड' और 'सेकेंड' क्लास की यात्रा में जो तात्त्विक फ़र्क़ है, वह इतना ही कि थर्ड क्लास में अक्सर थर्ड क्लास अक़्लवाले ऐसे लोग सफ़र करते हैं, जो फ़र्स्ट या सेकेंड क्लास अक़्लमंदों के मुँह पर भरमुँह बीड़ी का धुँआ फूँक मारते हैं—और बिलकुल स्वाभाविक भोले भाव से। नहीं तो सूखी तमाखू और चूने की धूल ही नाक के निकट ऐसी तेज़ी से तड़तड़ाकर उड़ा देंगे कि मारे छींकों के सामनेवालों की आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो पड़े। इस पर अगर आप किसी से सभ्यता के तक़ाज़े का गिला कीजिए, तो थर्ड क्लासजी फटकारकर बोलेंगे—"बाबूजी, आपको तो डेवढ़े-दूनेवाले दर्जे का टिकट लेना था। यह थर्ड क्लास आप-जैसों के लिये बना ही नहीं है।" थर्ड क्लास अक़्लवाले डिब्बे में थूक देना, बच्चे को मुता देना, दूसरे के सीनों पर लापर्वाही से लात मार देना गोया

अपना क्लास-सिद्ध अधिकार समझते हैं। ऐसों से बचने ही के लिये मैं सेकेंड क्लास में यात्रा करने का सक्रिय पक्षपाती बना।

पर इस बार जिस डिब्बे में मैं चला, उसके गद्दे 'खौरहे' गधों की खाल के बने मालूम पड़ते थे। पिछले महायुद्ध के चांचल्य में मिलटरीवालों ने उस डिब्बे का कचूमर काढ़ डाला था। सीटें टेढ़ी-बाँकी बनकर मुसाफ़िर को स्पर्श करते ही ढेंकीनुमा हो जाने-वाली। अपनी जगह से पंखों के बटन वैसे ही ग़ायब, जैसे नकटे के चेहरे से नाक। संडास (कमोडियस) दर्पणदार, मगर सरासर अंधकार। बिजली वहाँ बल्ब वहीं, पर 'निगेटिव' अलग, 'पाज़िटिव' अलग। जोड़े दोनो को वह, जिसकी शामत! गर्जे कि सारी रात अँधेरे में दोस्तों ने हाजतें रफ़ा कीं।

बिजली के पंखों की कहानी अलग ही, और वह भी कम मनोरंजक नहीं। पंखे दो, एक बेकार, दूसरा चलता। बोरी बंदर स्टेशन पर जब उस डिब्बे में यात्री एकत्र हुए, तो सबकी नाक चलते पंखों की तरफ़। एक मारवाड़ी सेठ अपनी माताजी के साथ जबलपुर जा रहे थे। पहले उनके जैपुरिया नौकर ने पंखे का रुख़ सेठ साहब की तरफ़ कर दिया। माता को ज्यादा हवा लगे, इस सुविचार से श्रद्धालु मारवाड़ी ने अपने हाथ से पंखे का प्रवाह मा की तरफ़ कर दिया। इसके बाद सीट नं० ×× पर आए एक घुटे सर की तरह खल्वाट पारसी सज्जन, जिन्होंने आते ही पहले पंखे का रुख़ अपनी तरफ़ किया, और फिर स्त्री और वृद्धा के प्रति। साधारण शिष्टाचार में आग लगा, सिगरेट सुलगा

वह मुँह से धुआँ फेंकने लगे। मगर पंखे की असल कहानी अभी अपूर्ण है। इलाहाबाद-एक्स-प्रेस जब बंबई को पचास-साठ कोस पीछे छोड़ चुकी, तब समुद्रावेष्टित द्वीप की चुलबुली वासंती हरारत, ठोस पृथ्वी और पहाड़ों की निशीथ—ठंडक से ठंडी पड़ गई। सारे डिब्बे में शीतल सिहर, कँपकँपी चमक उठी। गंजे पारसी की खोपड़ी पर तो, हवा बदलते ही, बिजली के पंखे के झपाटों से झापड़-से बरसने लगे। चौंधियाकर, उठकर उसने पंखे का रुख बड़ी सेठानी की तरफ़ पुनः कर दिया। नतीजा यह कि अब बूढ़ी के नक़ली दाँत बजने लगे। सावधानी से ताड़कर श्रद्धालु मारवाड़ी ने पंखे का रुख अब मेरी तरफ़ कर दिया, जिसे एक क्षण भी बर्दाश्त कर सकने में असमर्थ मैं पुनः पारसी की गंजी—स्वार्थ-चमचम खोपड़ी की तरफ़ मोड़, सन्नाटे से मुँह बंद कर खौरहे कोच पर पड़ रहा। 'अरे साला!' नारा लगाता पारसी पुनः उठ खड़ा हुआ—इस बार बटन (या स्विच) दबाकर पंखा रोक देने के इरादे से। मगर बटन की जगह दोनो तत्त्वों के तार अलग-अलग। जोड़े उन्हें वह, जिसकी शामत! लाचार बेचारा ओवरकोट में गंजी खोपड़ी छिपाकर सो रहा।

आप फ़र्माएँगे कि मैं गंदगी पर उतर आया, मगर मेरी साफ़-गोई का रुख सफ़ाई की तरफ़ है—यह 'कमोड' (विलायती ढंग का संडास) मेरी समझ में कभी नहीं आया। हज़ार में एक को छोड़ सौ में सौ भारतीय इस विलायती चूल्हे या कमोड से

घृणा करता है—सेवन, प्रयोग से अज्ञान। फिर अब आजादी के प्रकाश में इन कमोडों को तोड़कर फेंक क्यों नहीं दिया जाता? क्यों नहीं—भारतीयों या महान पूर्व के प्राणियों को उनकी सभ्यता, रुचि के अनुसार रेलों में सुविधाएँ दी जाती? आप विश्वास करें, सारी रात और सारी राह मैं सेकेंड क्लास के उस डिब्बे का बदबुआएँ देता रहा—"महायुद्ध में इस पर हवाई गोले क्यों नहीं गिरे? पश्चिमी पाकिस्तान के धधकते नरक में सबको तकलीफ देनेवाला यह डिब्बा जल क्यों नहीं गया? ऐसे डिब्बे सभ्य देश की गाड़ियों में जोते कैसे जाते हैं? ऐसे डिब्बे हमारे वर्तमान ही के दुर्भाग्य से संभव हैं।"

इलाहाबाद से बनारस-छावनी

धनबाद में गाड़ी पहुँची होगी कोई १० बजे सबेरे। वहाँ एक पारसी पति-पत्नी की जोड़ी अंदर दाखिल हुई। देवीजी फ्रांसीसी लेखक मोपास्सां की प्रसिद्ध कहानी 'चर्बी का गद' की नायिका की तरह गोलमटोल थीं। आते ही जिस सीट पर बैठीं, उससे बैठते ही झनककर उठीं। पति ने पूछा, क्यों? दूसरी सीट पर मारवाड़ी का बिस्तर साधिकार समेटकर लुंडमुंड बैठती हुई उन्होंने कारण बतलाया—"तड़खो लगेशे" (तेज धूप लग रही है।)

धनबाद-स्टेशन पर भिखारियों की भरमार। पहले जिसने सागना कर याचना की, नवयुवक पारसी उस पर बिगड़ा—"हटो, आगे जाओ। काम करो।" इस पर देवीजी ने भर्त्सना

के स्वर में भिक्षुक के प्रति कठोर होने से पति को वर्जा—"न रे!" अब पारसी अंदर आ रहा। तब तक दूसरा भिखारी सामने—एक विकटवदनी पकी हुई बुढ़िया! पारसी ने उसे एक एकन्नी दी। अब एक अंधी तरुणी आई। उसने उसे दुअन्नी दी। अब कई चिथड़ु ए बच्चे आए, और पारसी से दो-दो पैसे लेकर उछलते-कूदते चले गए। अब आई एक कानी-कलूटी भिखारिन—लेकिन अब चर्बीली पारसिन का धैर्य समाप्त हो चुका था। कुछ ही देर पहले भिखारियों के प्रति पति को उदार करनेवाली नारी ने नाकोंदम आने की कठोरता से कहा—"डोंट—डोंट गिव हर एनी थिंग।" (उसे कुछ भी मत दो।) जेब से आधी निकली दुअन्नी को उस सज्जन ने पत्नी के प्रसन्नतार्थ पुनः जेब ही में छोड़ दिया।

"बेशक, ऐसे को एक छदाम भी नहीं देना चाहिए।" मारवाड़ी ने चर्बीली पारसिन के भाव की दाद दी।

"फिर भी आप उदार सत्पुरुष हैं।" मैंने पारसी की प्रशंसा की।

"अजी सेठ!" मुस्किराते युवक ने कहा—"सत्पुरुष मैं नहीं। मुझसे इनकी बदशक्ल देखी नहीं जाती, सो दया-वश नहीं, घृणा-वश पैसे देकर मैं इन्हें सामने से टाल देता हूँ।"

धनबाद और बुरहानपुर के बीच में ज्वार की फ़स्ल तगड़ी देखकर पारसी-दंपति प्रसन्न हो उठे। पहले पत्नी ने पति को दिखाया—"जान, लुक! कैसी अच्छी ज्वार!" पारसी ने कहा—

"बेशक, बरसों से मैं इधर सफ़र करता हूँ पर ज्वार की ऐसी तुगड़ी फ़स्ल इसी साल नजर आ रही है। अब कंट्रोल उठ जायगा।" मैंने कहा—"जिस अन्न-राशि को देखकर आप कंट्रोल उठ जाने की बात सोचते हैं, उसे ही देखकर, इसी ट्रेन में, कोई-न-कोई काला-बाजारी सोचता होगा कि अगर सारा अनाज उसे ही मिल जाय, तो आधे को जला बाक़ी को पचास-गुना अधिक दामों पर बेचा जा सकता है।" इस कर्कश सत्य से खिन्न हो तरुण पारसी ने कहा—"ये ब्लैक-मार्केटी शैतान समाज के लिये 'कर्स' (शाप) होते हुए भी अफ़सोस !—आज सभी समाज में हैं। विलायत में भी ब्लैक-बाजार विख्यात है।"

२ नवंबर को ५ बजे सबेरे ही पता चला कि मैं यू० पी० आ गया; कारण, नैनी स्टेशन पर पंडे अपने यजमानों के लिये जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। भोले यात्री आज भी पंडों की निगाहों में भेड़-बकरियों से ज्यादा नहीं। एक-दो परिवारों को तो इलाहाबाद जाने से रोक, टाँग पकड़-पकड़कर उन्होंने डिब्बे से नीचे उतारा। सबेरे ही धर्मधंधे के नाम पर इन पंडों के मुँह से बुरी-बुरी गालियाँ भी सुनाई पड़ीं। तब ऐसा लगा, गोया आज भी युक्त प्रदेश अक्खड़-भुक्खड़ पंडे और पुरोहितों का देश पहले है।

इलाहाबाद से जँघई तक खेती-बारी और फ़स्ल अच्छी नजर आई—खासकर एक दिन पूर्व देखी हुई मध्यप्रदेश की फ़स्ल की तुलना में। मगर जँघई से बनारस-कैंट तक जो कुछ जोता-बोया

था, उसमें शिकायत की कोई गुंजायश नहीं मालूम पड़ी। इधर सी० पी० से भी तगड़ी ज्वार दिखाई पड़ी। खेतों में बाँसों से बाजी लगाने को तैयार हरे-भरे, पोढ़े गन्ने नजर आए। "अरी हरी अरहर" भी काफ़ी थी। सबाँ के पौधे छोटे, मगर कशमकश करते एक दूसरे से सटे खड़े सारे जीवन की कमाई क्षुद्र हाथों में आकाश की तरफ़ ऊँचे उठाए ललकारते हुए कि—'ले लो! जिसे जरूरत हो। हम अपने लिये नहीं तपते-पकते, पैदा करते, हमारी कमाई हमारी ही नहीं, दूसरे किसी की भी है।" सचमुच प्रकृति सारे परिवार के साथ केवल त्याग करती रहती है। धान भात नहीं खाता, न तो गेहूँ रोटी ही। आम फल नहीं खाता, गन्ना रस नहीं पीता, परवल न तो रसेदार भाजी खाता है, नहीं आलू सूखी तरकारी ही। अपनी कमाई जितनी बेशर्मी से आज का आदमी भोगता है, उससे वह प्राकृतिक सृष्टि या प्राणी मालूम ही नहीं पड़ता।

बंबई में स्वार्थी जीवन का ऐसा छल-कलकल कोलाहल कि कोई किसी को न तो पूछता, न सुनता है। बगल ही की कोठरी का आदमी बीसों बरस पड़ोसी से यह नहीं पूछ पाता कि वह हिंदू है या मुसलमान? समाज की गति-विधि की समीक्षा, पत्नी के प्रेम की परीक्षा, पुत्र की शिक्षा-दीक्षा बंबईवालों को किसी की फ़ुर्सत नहीं—सिवा कमाने के। आज के बड़े शहरों में सब-के-सब शास्त्र नीचे पड़ गए हैं—ऊपर है सबके केवल अर्थ-शास्त्र। बंबई के कालबादेवी-जैसे घने बाजारों में सिवा रोजगार के—पेड़, पालो, पशु, खुली हवा—मुक्त हँसी तक नहीं दिखाई-सुनाई पड़ती।

सोना, सोना—यहाँ तक सोना की चाह कि बंबई के श्मशान का नाम भी—सोनापुर!

बंबई छोड़ने से बरसों बाद खुली, स्वच्छ हवा मिली, सूखे-ठोस मैदान नज़र आए, भर-भर आँख हरियाली दिखाई पड़ी, नीलकंठ, भरद्वाज, तोता, मैना, कबूतर, गौरैया और खंजन सामने आए। अपनी कमाई तिजोरियों में जोड़नेवाले दूर छूटे, और जीवन के मधुर फलों को आकाशों ऊँचे उठाकर लुटानेवाले ज्वार-बाजरा-से ग़रीब दरिया-दिल अलानियाँ आगे आए।

काशी वर्तमान

इस बार काशी में मुझे राँड़, साँड़, सीढ़ी और संन्यासी एक भी नज़र नहीं आया। राँड़, साँड़, संन्यासी तो मिले ही नहीं, सीढ़ियाँ यों न नज़र आईं कि अभी गंगा नहाने मैं जा न पाया। राँड़ों की जगह जिन्होंने छीन ली है, स्त्री-जाति के प्रति सम्मान-भावना मन में भरे होने के सबब उन कलेजिनियों का नाम मैं नहीं लेना चाहता; साँड़ों की जगह कांग्रेस के पुराने, मोटे, दागी, देश-भक्त खड़े सींगें दिखा रहे हैं; संन्यासियों की जगह खोपड़ी मुड़ाए रिक्शावाले तपते तपन में उधार खाए सबका चाल-चलन सुधारने पर आमादा हैं। सो, राँड़-साँड़ के दिन गए, अब तो 'प्राइवेट' देवियों, देश-भक्तों और रिक्शावालों से जो बचे, सो सेवें काशी।

मज़ाक़ नहीं, काशी मुझे भयंकर कुरूपा इस बार मालूम पड़ी। मकान पर मकान बन गए—पर कला-विहीन। सब एक

ही ढंग के—डेढ़-डेढ़ ईंट और सीमेंट से कुसज्जित हाहाकारी दूकानदारी और किराएदारी के विचार से ज्यादा बने, परिवारियों के आराम के ख़याल से बिलकुल नहीं।

मकान नए, मगर सड़क पुरानी! याने व्यक्ति ने अलग-अलग काली कमाई की, पर म्युनिसिपेलिटी की आमदनी नहीं बढ़ी। कमलापति का घर चौड़े में होने से अँधेरे में नहीं; पर सड़क द्वार के दरवाज़े तक जानेवाली सभी 'टँगिया-तोड़'। संपूर्णानंद के घर तक जानेवाली हरएक राह अँधेरों-भरी, नए मकानों के कारण—जिस पर महारद्दी सड़कें। इतनी विपदाओं के बाद श्रद्धेय शिक्षा-मंत्री का घर जो देखा, तो विश्वास न हुआ कि यही घर है। बीस बरस पहले जिस बैठक में संपूर्णानंद की आरती उतारकर यहाँ की जनता ने उन्हें श्रद्धा से जेल भेजा था, उसमें आजकल भावों-भरी, तावदार, मुँह बाँधनेवाली मिठाइयों की दूकान है! जयशंकर 'प्रसाद' सुँघनी साहु-दूकान के सामने जहाँ पर बैठकर हिंदी के धुरंधर साहित्यिकों का स्वागत और साहित्यिक चर्चाएँ किया करते थे, वहाँ हुक़्क़े बिकते हैं! ग़र्ज़े कि काशी में आज आदर, आराम और अमीरी की जगहों पर दूकानें खुल गई हैं। तेल ही मिठाई—हुक़्क़ों की!

तावदार बनारसी यार नज़र नहीं आए—लहीम—शहीम। साफ़ा लगाए, पान खाए, अँगोछे या डुपट्टे के अंदर कसी हुई कंचन-काया छिपाए। अध्ययन के तेज से तमकते संस्कृत के आचार्य, आचार्यवान् विद्यार्थी नज़र नहीं आए—मंदिर-मंदिर,

दर-दर। दालमंडी की गली में दो-दो चक्कर लगाने पर भी कोई चमकता चाँद-तारा नजर नहीं आया; गमक-भरे 'पक्के' या चमक-भरे 'ख़याल' के अंग की एक तान तक तो न सुनाई पड़ी। याने गुणवंती गणिकाएँ गायदव; पर वासना की राजबनाक गुड़ियाएँ चारों ओर। गहरेबाज, खुले और बंद एक्कों का तो चिराग़ लेकर ढूँढ़ने पर भी पता नहीं। जिधर देखिए, उधर ही रिक्शे। कभी कोई एक्का नजर भी आता है, तो महा टुटहा, जिस पर दो आदमी भी मजे में बैठ न सकें। ऐसे ग़रीब, भुखमरे घोड़े द्वारा खिंचता, जो मारे कमज़ोरी के बनारसी 'नगर-पिताओं' के कर्तव्य-ज्ञान का 'कार्टून' मालूम पड़ता है। हमारी म्युनिसिपैलिटीवाले अगर रिक्शों का लायसेंस देना बंद नहीं कर सकते, तो कृपा कर एक्केवालों के पुराने अधिकार-पत्र रद्द कर दें, और भविष्य में ऐसे एक्का रखने की आज्ञा दें, जो घोड़े तगड़े और एक्के तावदार रख सकें। बनारस के एक्कों में रस-रस से होनेवाली टुटहे टट्टुओं की हत्या जितनी ही जल्द की जाय, उतना ही भला।

पहले काशी में केवल बाबा विश्वनाथ का नाम सुनाई पड़ता था, अब विश्वनाथ के बाद कमलापति का नाम भी सुनाई पड़ता है। विश्वनाथ के पाँच मुँह; कमलापति के पाँच अख़बार; उनके अनेक हाथ, इनके पीछे भी अनेक कार्यकर्ता—'हैंड्स;' एक महादेव, दूसरा महिदेव।

बंबई बनाम बनारस

बनारस के अनेक अरुण-तरुण साहित्यिक बंबई देखकर अभी-अभी लौटे हैं। ये मित्र ३५वें हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सिलसिले में वहाँ गए थे। पूछने-जाँचने पर मालूम पड़ा कि सम्मेलन का नाटक उन्हें उतना यथार्थ नहीं लगा, जितना मोहमयी बंबई का नाटक। उक्त महानगरी या 'मेट्रापॉलिस' के जादू से जगमग दोस्तों का चेहरा देखकर मेरा माथा ठनक उठा, जिसकी प्रेरणा का फल ये चंद लकीरें इस आशा के साथ लिखी जा रही हैं कि नौजवान दोस्त बुढ़ापे की ड्योढ़ी पर लात फटकारते हुए एक बड़े भाई के अनुभव से लाभ उठा अपने भविष्य का निर्णय निर्विकृत बुद्धि से करें, अँगरेज़ी की इस कहावत को ध्यान में रखते हुए—कि, सभी चमकदार चीज़ सोना नहीं होती, और मूर्खों के खरीदे हुए ज्ञान को बुद्धिमान् लोग मँगनी माँगकर अपना काम चला लेते हैं। मैं कलकत्ते में सात साल रहा, बंबई में बीस बरस और बनारस को तो घर की मुर्गी साग-समान ही समझिए। मैंने पाया बनारस की गंगा को निर्मल, तुलसी के शब्दों में—"विमल विपुल बहसि बारि," मगर वही पुण्यतोया कलकत्ते तक पहुँचती-पहुँचती कितनी गँदली कि पुनः तुलसी के ही शब्दों में—"सुधा सों सलिल सूकरी ज्यों

गहडोरिहौं।" पर बंबई में गंगा नहीं, हुगली भी नहीं, वहां है गुजरात का गीत कि "सागर पासे छें प्यास नहीं जाती।" बनारस में भले मैंने 'चना-चबेना' ही कमाया हो, पर सारे परिवार के साथ उसका भोग किया होगा। कलकत्ते में भी अगर दस हज़ार कलदार बनाए, तो पाँच हज़ार घर-बार तक ला सका, लेकिन—आप विश्वास करें तो, लाख-पचास हज़ार की गठरी पैदा करने पर भी एक कानी कौड़ी भी कौन भकुवा यहाँ तक ला सका? बनारस की माता अन्नपूर्णा जो भी देती हैं, गंगा-जल से पवित्र। कलकत्तेवाली काली का दान कमज़ोर बकरे के रक्त में सना दक्षिणपंथी विरक्तों के अयोग्य होते हुए भी वाममार्गी अनुरक्तों के तो योग्य होता है, लेकिन महारानी मुंबादेवी से मिलती है मात्र मृग-मरीचिका, जिससे प्यास तो खाक बुझे, उल्टे दौड़ते-दौड़ते मन-कुरंग हत-उमंग, रंग-भंग, तंग आभार-वाही पशु-सा शिथिल-अंग होकर गिर पड़ता है। काशी मुक्ति-दायिनी मा, कलकत्ता भोग-भरी रखेली और बंबई रोग-वियोग-मयी वेश्या है—वेश्या! समझा आपने? या मैं न समझा सका—सही ढंग से?

फिर से समझिए। बंबई की विख्यात अधिष्ठात्री देवियाँ दो—मुंबादेवी और महालक्ष्मी। मुंबादेवी के सामने है विचित्र व्यापारों से भरा विस्तृत बाजार, जिसमें सोना-ही-सोना, तो महालक्ष्मी के सामने है रेस का जुआड़ी-बाजियों का मैदान, जिसमें खोना-ही-खोना। सो, मुंबादेवी जो कुछ देती हैं, महा-

लक्ष्मी उसी वक़्त उसे छीन लेती हैं। मुंबादेवी के दान के रूप आप जान चुके—विविध व्यापार। अब महालक्ष्मी की लुटेरी अष्टभुजाओं में से कुछ को पहचानिए—रेस, रंडी, बरंडी, सट्टा, दट्टा और असंतोष खट्टा। काशी में विश्वंभर की विभूति और चना-चबेना से संतुष्ट होनेवाला प्राणी बंबई में सोना पाने पर भी मोतियों और रत्नों की तलाश में अथाह खारे रत्नाकर में घुटने से कमर, कमर से सीना और सीने से गले तक पानी में उतर अंत में डूब मरता है।

आपने देखे होंगे बड़े-बड़े महल, देखे होंगे भोजनालय—होटल, ज़रूर देखी होंगी, रूपसी परियाँ, पर, शायद नजदीक से उन्हें न देखा होगा। नहीं तो आप देखते, महलों में मनुष्य नहीं, भोजनालय में पोषक भोजन नहीं, और इंद्र-धनुषी साड़ियों के अंदर रसीला यौवन नहीं—केवल अंबर-डंबर, बस, विंडो-ड्रेसिंग। बंबई तीस मील के घेरे में फैली, तीस लाख जनता बसती जिसमें, पर शायद ही जहाँ एक लाख आदमी सही ढंग से सोने की जगहें पाते हों। बाक़ी लोग बाहर-बाहर वर्गफुटों की अँधेरी, गंदी कोठरियों में पंद्रह-पंद्रह की संख्या में पशुओं से भी बदतर हालत में एक संग सोनेवाले! आपने गुजरातियों को देखा होगा खद्दर के सफ़ेद पारसी कोट पहने, पारसियों को देखा होगा नैनसुख के लंबे डगले पहने, मराठों की रेशमी चमचम पगड़ियाँ भी आपने देखी होंगी, पर मालूम नहीं, दूध के हंडों-वाली काँवर ढोनेवाले उत्तर भारतीय अपने 'भैया' को आपने

देखा या नहीं ? पाँच-पाँच सौ के सूट-बूट-फ़ेल्ट-हैट-धारी मोटे-चट्टे साहबों को आपने ललचाई निगाहों से निहारा होगा, प्रायः हर सड़क पर अब नंगे, भूखे, विकलांग, गलितांग कोढ़ियों को आपने शायद न देखा हो। आप मरीन ड्राइव, पालवा, हैंगिंग गार्डेन में रतिमुखी रमणियाँ तो देखी होंगी, पर पिलाहाउस, ह्वाइटलेन और काँदा बाड़ी की 'पाउडर में पेंटित' नारी रूप-धारिणी उन महामारियों को न देखा होगा, जो रातोंदिन गर्मी और सूज़ाक का मुक्त दान कर लक्ष-लक्ष आदमियों को मृत्यु का मेहमान बनाया करती हैं। मैंने तो युगों बंबई में बसकर अच्छा-बुरा सब कुछ देखा, सुना और भोगा है, हाँ। खुदा से जब नहीं चोरी, तो फिर बंदे से क्या चोरी।

बंबई में केवल रुपया है। और कुछ भी नहीं। और, अगर आप कलाकार हैं, सहृदय हैं, तो सुनकर समझ लीजिए कि जितना धन आप एक जीवन में वहाँ नहीं कमा सकते, उससे कहीं ज्यादा कोई वेश्या एक चुंबन से कमा लेती है ! मैंने देखा है, बंबई में दूध के अभाव में ग़रीबों के बच्चों को सूखते-मरते, साथ ही मेरे परिचय की एक बुढ़िया विधवा पारसिन करोड़पत्नी है, वहाँ जिसने देश-विदेश से मँगा-मँगाकर इतनी बिल्लियाँ पाल रक्खी हैं, जिनके लिये उसे प्रतिदिन पाँच मन दूध खरीदना पड़ता है। दो-दो सौ रुपया रोज़ खर्चनेवाले ऐसे सज्जनों (?) का पता है मुझे, जो एक-एक बाड़े में दो-दो सौ अंधों को जुटा-कर पालते हैं, और सुबह उन्हें सारे शहर के नाकों पर कठोर

आज्ञा देकर पहुँचवा देते हैं कि—'सवा रुपया से कम भीख माँगकर जो भी लौटेगा, उसको खाने को हंटर दिया जायगा।' 'अंधे पीसें, कुत्ते खायँ' कहावत को सुना ही नहीं, मैंने आँखों देखा है।

सौ, हजार रुपया महीने से कम कमानेवाला बंबई के स्वर्ग में रहने पर भी नरक भोगता है—आप जानें। जाने को किसी को भी मैं मना नहीं करता, वहाँ पर मेरी राय में जैसे इँगलैंड का अँगरेज पेरिस और बर्लिन जाता था, अपनी जानकारी बढ़ाने के लिये, वैसे ही आप भी जायँ, न कि सोने की तलाश में सोनापुर (श्मशान) में मरने के लिये।

हमारा पीड़ित पत्रकार

श्रद्धेय गर्देजी के 'नवजीवन' से हटाए जाने का मुझे ग़म ज्यादा रहा। क़ाज़ी दुबला, शहर का अंदेशा!

मैं सोचने लगा, उस वयोवृद्ध, तपस्वी हिंदी-पत्रकार को 'नवजीवन' वाले ने पहले बुलाया ही क्यों? बुलाया, तो पंडित नेहरू की संस्था उनसे निभा क्यों न सकी? गर्देजी काशी में ठीक थे। तपते हुए भी रिटायर्ड जीवन बिता रहे थे, शांति से. चना-चबेना, गंग-जल से।

कहते हैं, परशुराम को बुढ़ापे में काशिराज-कुमारी अंबा ने जैसे युद्धोद्यत किया था शरण में जाकर—वैसे ही 'नवजीवन'-वालों ने भी गर्देजी को मैदान में उतारा। उस मैदान में, जिसमें चेले चीनी परशुराम के शिष्य भीष्म की तरह। शिखंडिनी बीच में न होती, तो परशुराम-भीष्म-संग्राम हर्गिज न होता। 'नवजीवन' की व्यवस्था-सुंदरी न होती, तो गुरु गर्दे मैदान में न उतारे जाते। भीष्म के पास परशुराम से एक दिव्यास्त्र ज्यादा था—प्रस्वापास्त्र। हिंदी के चेले पत्रकार भी अपनें को गुरुओं से अधिक गहन-गंभीर माननेवाले हैं। 'नवजीवन' कार्यालयवाले चेलों ने तीर चलाए या नहीं—मुझे पता नहीं;

परशुराम और भीष्म में तीर चले थे, यह पढ़ा था अलबत्ता ; परशुराम गिरे नहीं, न तो परशा ही उनका टूटा। 'नवजीवन' के सिलसिले में लखनऊ जाकर गर्देजी गिरे, उनकी पसली टूट गई। पढ़ा नहीं आपने पेपरों में ? दुःख की बात ! यह दुःख की बात, आपने पढ़ा नहीं !

गुरु-अपमान

परशुराम पर भीष्म ने जब प्रस्वापास्त्र साधा, तब बाधा दी देवताओं ने—'अन्याय-अन्याय' पुकारते हुए। आसमान से नारद उतर आए। तर्जन-वर्जन करती माता गंगा तक सागर-महल से बाहर चली आई थीं। मगर गर्दे गुरु पर जब गर्दिश आई, तब चेले चक्कर में चुप रहे। हिंदी-पत्रकारों की गुरु-अपमान-सहन-शक्ति परंपरा-प्रतिष्ठित है। पहले गाय मारी जाती थी, हम देखते थे। अब गुरु मारा जाता है, हम पेट पर हाथ धरे बकर-बकर ताकते रहते हैं। मालूम नहीं, निगुरे हम हैं कि नहीं, पर संसार के पत्रकारों में अद्वितीय अभागे हम अवश्य हैं—मुझे मालूम है। हम सुख चाहते, घोर दुख पाते हैं। गर्दिश हमारी ; पूँजीपतियों का तेल। विश्व-प्रकाशक तेल हम अँधेरे में आँखों पर पट्टी बाँधकर, पेलकर निकालते हैं।

कुर्सी पर पत्रकार हमारा गवर्नर जनरल, काग़ज़ पर विश्व-व्यवस्थादाता, लेकिन 'पे-मास्टर' के सामने, पूँजीपति के सामने, 'जनम को भूखो भिखारी।' हमारा लेखन कुछ, जीवन कुछ नहीं। दिखाने के दाँत नक़ली, खाने के मसगुरे असली। चित्र

हमारे देख लो, हजार-हजार—अखबार-अखबार। पर चरित्र एक नहीं। विचित्र विडंबना !

और चित्रकार को जब तक चरित्र-ज्ञान 'करेक्टर'—कल्पना नहीं, तब तक कला शाश्वत नहीं, पवित्र नहीं। चरित्रच्युत पत्रकार-कला की तस्वीरों में जान कहाँ ? छूइए, तो कामना की कठपुतलियाँ, मोह दुर्बल, डोर प्रबल, मतलबियों की मजबूत चुस्त चंचल, उँगलियों के इशारों पर नाचतीं।

चरित्रवान् पत्रकार

सभी दुर्बल नहीं, पर हिंदी के पत्रकारों में जो चरित्र प्रबल-मनीषी हैं—'सिंहों के लहँड़े नहीं' की तरह उनकी संख्या हाथ की उँगलियों के नाखूनों पर गिनी जा सकती है। ये गुरुजन वजनी हैं, पर हमारे (दमारोगी से) कमजोर पत्रकार के माथे पर फौलाद से बने मुकुट या शिरस्त्राण की तरह—भारवत् महसूस होते हैं। दम टूटता है, कलह की खाँसी आती है, कमजोरी के चक्कर चलते हैं, गर्दन झुकते ही मस्तक झुकता है। दुर्बलता से हमारे मुकुट गिर पड़ते हैं। वर्तमान पत्रकार-समाज की व्यक्तिगत कमजोरी से हमारे नरसिंहों को भी कष्ट उठाना, वनवासी बनना पड़ता है। पर वह घास तो नहीं खाते। भले ही लंघन पचास हुए हों। सरकस मास्टर के हंटर पर सलाम तो नहीं करते, चाहे भूखों ही मर जायँ।

हिंदी में ऐसे पत्रकार कहाँ हैं ? यह मुझसे न पूछिए। जहाँ हों, ढूँढ़िए। हैं ये महावीर कहीं-न-कहीं जरूर। जिस दिन ये

न होंगे, उस दिन अखबारनवीसी राँड़ हो जायगी। ये तिनके से तलवार को काटते मसिजीवी हो असिजीवियों की दुर्बलता सुझाते, स्याही से सुफ़ेदी फैलाते हैं। प्लेट-फ़ॉर्म पर गर्जनेवाले २१ में जेल में गए होंगे या ४२ में, पर हमारे पत्रकार २१ से ४२ तक बराबर जेल ही भोगते रहे—अपने ऑफ़िसों की कालकोठरी या सालिटरी सेलों में। जेलों में सुधार हुए, पर पत्रकारों की 'सेलों' में वही अंधकार आज तक है।

गुजराती पत्र की कहानी

पत्रों की उन्नति हुई, पर पत्रकारों की नहीं। पूँजीपति का मूल बढ़ा, पत्रकार की जड़ सड़ गई। एक प्रसिद्ध गुजराती पत्र की कहानी से ऊपर की बात समझिए। बीस वर्ष पहले जब वह पत्र चलाया जा रहा था, तब मालिक ने संपादकों से वादा किया कि व्यापार के लाभ में बाजरा मिले या बासमती, लिट्टी मिले या मालपूआ, भोग उसका हम सभी सम भाव से करेंगे। इसी उम्मीद पर बीस बरस बाजरा खाकर संपादकों ने पत्र के कार्यालय में सोना-मोती बरसा दिया। लेकिन मालिकों ने बाजरे बाँटे, मोतियों को सेफ़ डिपाजिट में जमा कर दिया। दुख के दिनों में अधिकारी पद पर ग़रीब पत्रकार रहे, सुख का समय आते ही मालिक के भाई-भतीजे-दामाद रंग बाँधने को सामने आए। पत्रकारों की तनख़ाह भी डेढ़ सौ से चार-पाँच सौ तक पहुँची; पर तब, जब बाजार में एक रुपया में मिलनेवाली वस्तु आठ रुपए में मिलने लगी। असिल तनख़ाहें बढ़ीं दामादों की, बच-

पन के हमप्यालों की, भाइयों-भतीजों की। आठ-आठ, ग्यारह-ग्यारह सौ रुपए मासिक। "उग्रजी", उक्त गुजराती पत्र के प्राण-स्वरूप वयोवृद्ध पत्रकार ने मुझे सुनाया—"आज हम पत्रकारों से बुरा कोई नहीं। संसार के शोषकों के विरुद्ध लड़नेवाले हम संसार के सबसे बड़े शोषित हैं आज! लिखते हैं हम, पत्र पर नाम जाता है पूँजीपति का। कमाते हैं हम, खाते हैं मूँजी। हम विधाता को सुधार सकते हैं, बादशाह-वायसराय को भी, पर अपनी दुर्गति सुधारने में सरासर असमर्थ! वल्वों के युग में भी चिराग़-तले ऐसा अँधेरा कहीं भी नहीं! ऐसा क्यों? कुछ बतला सकते हैं आप?" मैंने कहा—"मुझसे यह प्रश्न करके आपने केवल बड़ाई बख़्शी है। नहीं तो, आपसे कुछ छिपा नहीं। सब कुछ जानते हैं आप। पत्रकारों की आपसी फूट ही सारे दुर्भाग्यों की जड़ है। संघटन का उपदेश देकर दुनिया को हम आज़ाद कर सकते हैं, पर स्वयं संघटित होकर स्वतंत्र बनने में असमर्थ! आज जो संघटित नहीं, वही चौपायों की तरह बंधन में। उसी का दोहन, शोषण। उसी के बच्चे पानी को तरसते और बछिया के ताऊ दूध पीते। ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को देखते श्वानवत् गुरगुराता है जैसे, वैसे ही एक पत्रकार दूसरे पत्रकार के सामने मायामयी ग़ुलामी की सूखी हड्डी के लिये भों-भों करता है। भाई को डाट-फाटकर बड़े स्वाद से वह सूखी हड्डी निचोड़ता है, और 'निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष लहै।' दुधार गाय की लात भी खाकर शोषक पुचकारता है—लेकिन

अच्छे-से-अच्छा संपादक भी उग्रता दिखाकर शोषक पूँजीपति के निकट नहीं रह सकता। कहने को आज दूध से पत्र ज्यादा जरूरी, समाज बिना दूध के महीनों गुजारा कर सकता है, किंतु बिना समाचार-पत्र के एक दिन नहीं। लेकिन अच्छे दूध की परख-प्रतिष्ठा वह जानता है। पर अच्छे पत्र की पहचान उसे नहीं। फलतः दुधार गऊ की लात पूँजीपति को बर्दाश्त, क्योंकि हरएक गऊ दुधार नहीं होती। लेकिन उत्तम पत्रकार लात फटकारते ही कुर्सी पर से हटा दिया जाता है, क्योंकि उसकी जगह पर जात का दुश्मन जात-भाई तुरंत मिल जाता है। लतमार गाय को कोई शोषक निकाले भी, तो उसकी नाँद में भूसा खाने के लोभ में दाँतों में तिनके की जगह अर्जी दाबकर बिना बुलाए ही दूसरी गाय किसी के थान पर दौड़ी नहीं जाती। पर एक योग्य संपादक के पद-च्युत होने पर हमारा अयोग्य-से-अयोग्य संपादक भी अर्जी और दाँत दिखाता पूँजीपति के बाड़े में पुच्छ-विषाण-हीन पशुवत् दौड़ा आता है। पशु की जरूरत है, पत्रकार की नहीं। किसी भी शहर में ढूँढ़िए, तो पशु कम—भारवाही पत्रकार बहुत।" लेक्चर मेरा लंबा हो गया, पर शोषित गुजराती पत्रकार मित्र अग्रलेख लिखना भूलकर सुनता ही रहा।

पत्रकारों का पलड़ा भारी

हम तराजू लेकर भी सेवाओं का वजन करें, तो लोकनायकों के पलड़े से पत्रकारों का ही पल्ला भारी रहेगा। लेकिन दोनों ही की सेवाओं के फल में विषम अंतर! २१ और ४२ के त्यागों के

लिये तपस्वी नेताओं को पेंशनें मिल रही हैं। प्रसन्नता की बात है। पर आश्चर्य की बात है कि पत्रकार जो सन् १ से ४८ तक घिसते-पिसते रहे, आज भी दुख और अपमान के अपार पारावार में उभुक-चुभुक डुबकियाँ खा रहे हैं। देखिए तो, लीडरों से पत्रकार कहीं ज्यादा सद्विचार-प्रचारक। पर लीडर कौंसिल में, विधान-परिषद् में, मिनिस्टर की 'शिवारले' मोटर में और पत्रकार सड़कों पर चप्पलें चटखाते, दफ़्तरों में माथा रगड़ते, क़लम से 'करम' घिसते ! पुनः कैसी विडंबना ! प्रभु तरुतर, कपि डार पर !

कोई कहेगा, हिंदी के पुराने पत्रकार युग के पीछे पड़ गए। होंगे, हाँ, पर क्या वर्तमान हिंदी के अधिकतर लोकनायक युग के पीछे नहीं ? तो फिर देश-भक्त कोंडावेंकटाप्पयाने महात्माजी से शिकायत क्यों की थी ? तो फिर बाबूजी ने मरने की इच्छा क्यों की ? तो फिर यू० पी०-कांग्रेस के हाईकमांड ने उस दिन सत्रह लीडरों को दंडित क्यों किया है ? मुझे मालूम नहीं कि इस तरह एक साथ सत्रह पत्रकारों की नैतिक भर्त्सना भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में कभी हुई। फिर पत्रकारों के प्रति यह उपेक्षा क्यों ? क्या हमारे नेता डरते हैं कि सुखी-स्वतंत्र होते ही पत्रकार कहीं उनके पदों पर अधिकार न जमा बैठे ? मामला क्या है ? कारण क्या है, जो श्रद्धेय पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, श्रद्धेय पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर, श्रद्धेय गर्देजी आज दो-दो हज़ार रुपए मासिक दक्षिणा नहीं पाते। सबब क्या है, जो हमारे

मंत्रिमंडल के उदार महापुरुष पत्रकार के सुख-दुख से उदासीन—आत्मसुख—लीन हैं ?

गला कटे, फिर भी चुप रहो !

अँगरेज गया। अँगरेजी राज में पत्रकारों को लाख दुख थे, पर दुश्मन से लड़कर शहीद बनने के स्वर्गीय सुख के नशे में वह सब कुछ सह लेते थे सस्मित। पर आज दुश्मन नहीं, दोस्तों के हाथों दुस्सह दुख पाने पर भी वह लड़ने में असमर्थ हैं। अब शहीद बनना तो दूर, देश-द्रोही का विकट टिकट माथे पर चिपकाए जाने के भय सामने। सो, भाई भाई है, दुश्मन नहीं।

तर्क-प्रिय दुनिया की नाक मोम की ; जिस तरफ़ चाहिए, घुमा दीजिए !

देवव्रत और शिवपूजन

क़ाज़ी दुबला क्यों, शहर का अंदेशा। देवव्रत शास्त्री जब 'नवशक्ति' से हटाए गए—अन्याय की आँच की कल्पना से जल-भुनकर मैं रह गया। जिसे हँसना पड़ा होगा, उस पर क्या गुज़ारी होगी ! देवव्रत ने दिन को दिन और रात को रात न मानकर 'नवशक्ति' को अपने ख़ून से सींचा था, भीख माँगकर, तलवे घिसकर ! और उन्हें दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंका गया। सबने सुना, सबने देखा, पर चुप रहे सभी ! देवव्रत मार डाले गए हों, पर यह हत्या नहीं; सालिसी थी (कहिए कैपिलिस्टिक)। हत्या क़ानून में आती है, पॉलिसी क़ानून बनाती है ! उस दिन बिहार के आचार्य मेरे

'शिवपूज' गिराए गए 'हिमालय' से—जानते हैं हम। शिवपूजन पृथ्वी की तरह क्षमाशील। हिंदी-साहित्य-सेवा जेल के टार्चर-चेंबर में बहुत सताया गया वह पट्ठा। रेखिया उठान से बुढ़ापे तक। पर क्या मजाल, जो बहादुर की जुबान पर उफ् आ जाय! मगर 'हिमालय' छोड़ने में शिवपूजन को बड़ी चोट आई; मालूम पड़ता है। चंद से चिनगारी जैसे निकले, वैसे ही उनका वक्तव्य प्रकाशित है। यही कि ईमानदार पत्रकार के कष्ट अपार। आचार्य शिवपूजन की मुट्ठी-भर हड्डियों के चूने की पॉलिश लहेरियासराय-वालों के चमचम महल पर कितनी है? सारा बिहार और यू० पी० जानता है। लेकिन वह पॉलिसी-पैलेस है (शिवपूजन का टार्चर-रूम)। वह सभ्यता की सृष्टि न्याय की शुभ दृष्टि है।

गर्देजी हटाए गए—आपने पढ़ा; और अभी कल ही सुना होगा कि 'सर्चलाइट'-से तपस्वी पत्रकार 'मुरली बाबू' भी हटाए गए। मुरली बाबू की सेवाओं का इतिहास भी वही—'क़ुर्बानी'। पुरस्कार भी वही ख़ूनी! ख़ून भी वह, जिसकी तारीफ़ उस्ताद 'ग़ालिब' ने की है कि—जो आँख ही से न टपका, तो फिर लहू क्या है? पुत्र और पत्र में कितना कम अंतर होता है, यह किसी भी वीर्यवान् पत्रकार दिलदार से पूछ लीजिए, लेकिन आज के क़ानून की रू से पुत्र छीन लेना—जेल, पर पत्र छीन लेना खेल है—खेल!

कल तक 'नवजीवन' के स्थानापन्न-संपादक तरुण पत्रकार खाडिलकर को भी प्रबंधकों ने परसों हटा दिया। यह कहकर

कि "तुम्हारी जरूरत नहीं।" जरूरत नहीं खाडिलकर की, जो किसी भी ऑफ़िस को गंभीरता से सुशोभित कर सकता है! उसे 'आज' जानता है; उसे 'संसार' जानता है, पराड़कर—कमलापति जानते हैं, काशी जानता है, लखनऊ जानता है। उसे मैं भी जानता हूँ जरा-जरा। चंद ही दिन हुए, महात्मा के मरने पर उसने एक ऐसा अग्रलेख 'नवजीवन' में लिखा था, जिसकी प्रशंसा पंडित जवाहरलाल ने भी की थी। उसकी 'जरूरत' नहीं! कुंद छुरी से गला काटना अगर यही नहीं, तो और क्या है?

योग्य पत्रकारों का तिरस्कार

पत्रकार बहुत, योग्य कम, पर पदों पर हैं अयोग्य ही, योग्य अभागे विपदों पर गुजारा कर रहे हैं। योग्य का ऐसा ही तिरस्कार रहा, तो हिंदी-पत्रकार-कला जिस दोजखी अंधकार में घुस जायगी, उसकी कल्पना भी कंपनकारी है। अयोग्य जहाँ पूजे जाते हैं, जाते हैं योग्य जहाँ ठुकराए—शास्त्रों ने कहा है—दारिद्रय, दुःख, दुर्भाग्य वहीं पर प्रलय तांडव नाचते हैं—बेताल!

लेटेस्ट समाचार

दैनिक और साप्ताहिक 'प्रताप' के संपादक श्रीयुगलकिशोरसिंह शास्त्री ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है। इस्तीफे का कारण अज्ञात है। आप स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के जमाने में ही प्रताप-परिवार में आए थे, और उसी समय से विभिन्न पदों पर योग्यता-पूर्वक आपने अपने कार्य का संपादन किया था।

देवालय और वेश्यालय

देखा आपने! 'बनारस फिर से बसे, तो बेहतर'-शीर्षक सुझाव में मैंने जो मंदिरों की महत्त्व-रक्षा की बात चला दी, विश्वनाथ का नाम ले लिया, राम की चर्चा कर दी—उस पर अनेक अर्वाचीन प्रगतिगामी मित्र नाक-भौं सिकोड़ने लगे। मंदिरों की कुशादगी से नए ज़माने का क्या रिश्ता? राम—निराशों के आश्रय नहीं, तो और क्या? देवालयों के सुधार से फ़ायदा जब कि निकटतम भविष्य में दर्शन करने कोई जायगा ही नहीं? आग्रह है—उक्त प्रश्नों पर आज के आदरणीय धर्माधिकारी, धर्म-बुद्धि और धर्म-व्यापारी सावधानी से विचारने के बाद ही सकुशल भविष्य की कल्पना करें।

ब्राह्मण

मेरी यह कमज़ोरी कि शुद्ध 'बेचन' के आगे 'पांडेय' और पीछे 'शर्मा' की व्याधि-उपाधि लगी हुई है। 'पांडेय' और 'शर्मा' हमारे देश में परंपरागत कुलीनता, श्रेष्ठता-सूचक माने जाते हैं। परंपरा-प्राप्त प्रतिष्ठा और मौरूसी खेत न तो कोई छोड़ता है, न मैं ही छोड़ता हूँ। यही मेरी कमज़ोरी कि 'ब्राह्मण' के घर पैदा होने के सबब ब्राह्मण मैं। वैसे भीतर 'बेचन' के क्या है, वही जानते, चकाचौंध से कौन नहीं चौंधियाता? चोर

को भी मुकुटधारी देख समाज उसे श्रीमंत कहता है। वैसे ही 'बेचन' को भी 'पांडेय' और 'शर्मा' से चमकते देख अनायास ही लोग 'महाराज' मानते हैं। कोई किसी से नहीं पूछता कि चोज चोरी की है या परंपरा-प्राप्त 'प्रापर्टी'। हा-हा-हा-हा! दुनिया की इस बेवक़ूफ़ी से फ़ायदा जो न उठावे, वह दर-बेवक़ूफ़ और दर-दर बेवक़ूफ़। बेचन वह नहीं, वह 'पांडेय बेचन शर्मा' है। परंपरा से प्रतिष्ठित। चोरी का ताज पहनने में तो परिश्रम करना पड़ता है, परंपरा का मुकुट धारण करने में कुछ भी नहीं करना पड़ता। परिश्रम से आदमी कुली बन जाता है, परंपरा से कुलीन। लायक़ चोर ही अपनी कमाई क़ानून और दंड के हाथों से बचा सके तो सके, पर खानदानी प्राणी लायक़ हो या नालायक़, क़ानून या दंड उसकी कुलीनता की तरफ़ आँख उठाकर ताक भी तो नहीं सकते। कर्ण के अंग से जन्मजात अभिन्न कवच-कुंडल भले ही अलग हो गए हों, पर 'दीवानगी से दोश पे ज़ुन्नार भी नहीं, यानी हमारी जेब में एक तार भी नहीं', फिर भी मैं 'ब्राह्मण' हूँ। बाबाजी लाख छोड़ें, पर कंबख़्त कंबल छूटे, तब तो!

देवालय

शरीर में आत्मा रहता है, घर में जीव, मंदिर में देवता, मगर शरीर, घर और मंदिर तीनों बनाता है आदमी ही। यह आदमी अजीब है। युगों से वह शरीर, घर और मंदिर बनाता-बिगाड़ता आ रहा है। क्या रक्खे, क्या न रक्खे, सबको सँवारे या सभी

को नष्ट कर दे, कुछ करे, या कुछ भी न करे ? आज तक आदमी तय ही न कर पाया। कृष्ण ने सारे झगड़ों को छोड़ देने की सलाह दी—'मामेकं शरणं व्रज' कहकर। 'जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ,' कहकर कबीर ने कृष्ण का समर्थन किया। गौतम बुद्ध और लेनिन ने 'संघशरणम्' या सोवियट यूनियन में शामिल होने की व्यवस्था दी। उर्दू का एक 'शेर' है—

शेख ने मसजिद बना मिसमार बुतखाना किया ;
तब तो एक सूरत भी थी, अब साफ़ वीराना किया।

मेरा दावा यह कि शेख़ ने बुतख़ाने को मिसमार कर, पूजा-गृह को नष्ट कर सिनेमा-हॉल तो नहीं बनवाया ? ग्रैंड होटल तो नहीं बनवाया ? बनवाई उसने मसजिद—एक पूजा-गृह की जगह दूसरा पूजा-गृह, भगवान् के घर की जगह ख़ुदा का घर। असल में वह शेख़ भी 'विरहमन' था दिल-ही-दिल। मसजिद बनाकर उसने मकान की 'डिज़ाइन'-मात्र 'चेंज की', मालिक को तो नहीं निकाला ?

यह 'मालिक' कौन ? आज का प्रगतिमान् ज्ञान विज्ञान-अभिमान से माथा तानकर पूछता है। अगर सब अपनी ही करनी से पार उतरते हैं, श्रम ही अगर पूँजी है, तो नीचे या ऊपर मालिक कौन ? लोग उसका मुँह देखना चाहते हैं, उससे शेक हैंड करना चाहते हैं, क्योंकि बिना प्रत्यक्ष देखे, स्पर्श किए कोई किसी के अस्तित्व पर एतबार लाने को आज तैयार नहीं। शरीर में आत्मा है, ऐसा शरीरी को साफ़ मालूम पड़ता है, घर में

गृहस्थ हैं, दुनिया देखती है, पर मंदिर, मसजिद, चर्च में पत्थर के सिवा और क्या नजर आता है ? ईश्वर कहाँ, स्वर्ग कहाँ, नरक कहाँ। ऊबकर दार्शनिक ने कहा—"दिल के खुश रखने को 'ग़ालिब' यह ख़याल अच्छा है।" पर 'ग़ालिब' पुरानी दुनिया के फिर भी, नहीं तो नई दुनिया अमेरिका के विख्यात लेखक मार्क टाविन ने लिखा है—"सत्य महान् सत्य यह कि यह विश्व ब्रह्मांड भ्रम है, मानव-जाति माया-मात्र है, पार्थिव जीवन धोका है, न तो स्वर्ग है—न नरक; सब कुछ स्वप्न—कुरूप, मूर्खता-पूर्ण सपना।" 'ख़्वाब था, जो कुछ भी देखा, जो सुना अफ़साना था।'

पुराणपंथी न मानें, पर आज का आदमी यही मानता है कि वह बीते कल के आदमी से ज्यादा बुद्धिमान् है। फ्रांस के विख्यात कलाकार विक्टरह्यूगो ने मरते वक्त कहा था—'मैं चर्चों में की जानेवाली प्रार्थना—पूजा को नहीं मानता, केवल ईश्वर को मानता हूँ।' ह्यूगो को मरे ज़माना गुज़रा—६२ बरस हुए। ह्यूगो मामूली आदमी नहीं। अपने समय का महान् सज्जन ख्रिस्तान वह अब्राहम लिंकन की तरह उन्नीसवीं सदी का विधाता-निर्माता माना जाता है। लिंकन मस्तिष्क, तो ह्यूगो को हृदय लोग मानते हैं। ऐसे मस्तिष्क और हृदयवाली उन्नीसवीं सदी की पुत्री यह बीसवीं सदी है वर्तमान। मुझे लगता है, शायद अब पब्लिक-पूजा-स्थलों का ज़माना तेज़ लदता चला जा रहा है। भविष्य में संसार के सभी पूजा-स्थल भले ही 'मिसमार' न कर दिए जायँ—कुछ तो स्थापत्य और शिल्प-कला की दृष्टि से

रखने ही क़ाबिल हैं—पर प्रतिष्ठा इनको अब टूटे बिना रह नहीं सकती। नई दुनिया में ईश्वर को अगर रहने दिया गया, तो हरजाई ही बनकर वह रह पावेंगे—यकजाई हरगिज़ नहीं।

और वेश्यालय

हरजाई शब्द परमात्मा और वेश्या, दोनों ही के वास्ते प्रयुक्त होता है, पर वेश्या के साथ कितना भोंड़ा, परमात्मा के संग कैसा रहस्यमय—घट-घट-व्यापी! काशी-जैसे महातीर्थों में युगों से आज तक वेश्यालयों की प्रतिष्ठा देख मुझे ख़ुदा की क़ुदरत और भगवान् की माया की ताक़त का अंदाज़ा मिलता है। वाल्मीकि ने मरा-मरा जपते-जपते जैसे राम-राम जपना शुरू कर दिया था, वैसे ही समाज ने उलटा जपते-जपते वेश्या को सुलटा जपना शुरू कर दिया है, फिर भी ज्ञान से नहीं, अज्ञान ही से। क्योंकि वेश्याएँ बुरी होतीं, तो दाल की मंडी बनारस के हृदय पर न बसाई गई होतीं; भली होतीं, तो उन्हें भजकर भी भले आदमी इतना बुरा न कहते। कुछ 'दर्शनियाँ हुंडी—दार्शनिक' हँसेंगे, क्योंकि उन्हें हमेशा आसमान की तरफ़ देखने का शौक़ है, ज़मीन की तरफ़ वह देखते ही नहीं कि जान पाएँ कि मोर के पाँव कितने लकड़ीले और कमज़ोर हैं। कि जान पाएँ कि जिसे ज्ञान के सहस्र चंद्र-सूर्यांकित गगनविहारी पंख होते हैं, उसी के पृथ्वी के पतन को चंगुल से पकड़ने के चंचल, दुर्बल (दुरा)-चरण भी हो सकते हैं। मानव दंभ—ऊपर-ही-ऊपर टटोलने का शौक़ीन—जब कभी नीचे देखता है, तो उसे पाँव-तले की धरती

धँसती मालूम पड़ती है। सो, कुछ समझदार यह समझने को लाचार हुए हैं कि आसमान के साथ जमीन का भी ध्यान रखना कम आवश्यक नहीं, बल्कि पृथ्वी के प्राणी का पहला फ़र्ज़ है पृथ्वी के प्रति। अगर आसमान का राज जमीन पर लाना है, तो पहले इसे ही पवित्र करना होगा। जब तक यहाँ पाप रहेगा, पापी बसेंगे, तब तक आखिर राम-राज होगा कैसे ?

सो, मेरी राय में भविष्य याने आगामी पचीस वर्षों के अंदर देवालय के साथ वेश्यालय भी उठ जायँगे। देवालय लोगों को उँचाई का धोका देता है, वेश्यालय निचाई का ; इधर भविष्य है आगे समता का। बाइबिल के शब्दों में पहाड़ काटे जायँगे, और खड्डे पाटे, तभी यह विषमता दूर होगी। किसी भी प्राणी का केवल शरीर पालन के लिये तन बेचकर कमाना किसी भी समाज के लिये कलंक है। वेश्यावृत्ति नष्ट कर देने की कोशिशें स्वतंत्र देशों में अर्से से जारी हैं, हमारे देश में इधर लोगों का ध्यान सावधानी यों नहीं कि परतंत्र होने के सबब अभी कल तक मर्द भारत औरतों की तरह विदेशियों द्वारा मर्दा-गर्दा जाता था। अब स्वतंत्र भारत पौरुष की परिभाषा अवश्य समझेगा, समझेगा कि किसी भी देश में कोई भी वेश्यालय सारे राष्ट्र के मुँह पर कालिख कुरेंग है। राष्ट्र का एक भी बच्चा अगर शरीर का धंधा करे, तो उसके विवेकी कर्णधारों को गले में वजनी पत्थर बाँधकर, गहराई के अभाव में, चुल्लू-भर पानी में डूब मरना चाहिए। प्रेम हो, और जब तक वह अंधा हो, तब तक अंधेर भी हों, मंजूर;

पर पैसे दे-लेकर शरीर ख़रीदना या बेचना नीच नालायक़ी है, असभ्य।

भविष्य

दुर्गा सप्तशती की वह कथा मुझे अक्सर याद आती है, जिसमें असुरों से (अपने पति) देवों के बुरी तरह हारकर भाग जाने पर स्वयं देवियों ने अपना तेज सँभाल महाभीमा का रूप धारण किया है। देवों की कापुरुषता के हंटरों से पिटी अपमान-विष-विह्वल नागिनियों-सी देवियाँ मोह-महुवर पर फिर कभी न नाचीं, अलबत्ता—नाच उठीं महाचंडी महादेव की छाती पर! देखता हूँ, पुरुष-देव पुनः हार रहे हैं—दोनो भाव के असुरों से—बाहरी और भीतरी। पुरुष की सबसे बड़ी हार यह नहीं कि वह दास या दरिद्र है। बड़ी हार है यह कि वह मातृजाति का तन-विक्रय देख सकता है। एक भी वेश्या रहेगी जब तक, तब तक वेश्याचार का दैत्य दुनिया के मन में जागता या दबका सोता रहेगा। वेश्याचार का समाज के मन में छिपा वह दैत्य ही तो है, जो सांप्रदायिक अंधेरों में साधारण नागरिकों को एक दूसरे की बहन-बहू-बेटियों पर बलात्कार की प्रेरणा देता है—वेश्याचार की? यह मानवता की बड़ी भर्त्सना मातृत्व का घोर अपमान—समाज का उत्तम अर्धांग आख़िर कब तक बर्दाश्त करेगा? बहुत ही निकट भविष्य में सारे संसार की स्त्री-जाति विद्रोह करेगी—पुरुष की कापुरुषता के विरुद्ध। इस विद्रोह के लक्षण योरप, अमेरिका, रूस में तो स्पष्ट नजर आने भी लगे हैं— जहाँ दुरा-

चार और युद्ध से सड़ गल मरकर पुरुष-जाति कम और कमज़ोर हो गई है। आज के सभ्य नारी का सम्मान करने लगे है यौनः चेतना से चंचल होकर, मातृत्व के महत्त्व से मुग्ध नहीं। तभी तो 'सभ्यों' से घिरी पराजित जर्मनी की बेटियों का नारीत्व एक चाकलेट के डिब्बे, मोजे के जोड़े, सिगरेट के पैकेट पर बेचा-खरीदा जा रहा है? तभी तो अमेरिकी सिपाहियों को अपनी गर्वीली-गोरी गृहणियों के प्रेम से विपत्ति भरे जापान की पति-हीना ललनाओं का लूटा हुआ यौवन कहीं ज्यादा स्वर्गीय मालूम पड़ता है? पुरुष दुर्बल से दुर्बलतर बनकर दुर्बलतम में घुसा जा रहा है। नारी रसोई-घर से निकलकर गली में, गली से बाज़ार, फ़ैक्टरी में और वहाँ से रण के मैदान तक आ पहुँची है। जो बिना हथियार ही लड़ सकने में समर्थ थीं, अब एक खसमदार का इशारा ही जिनका क़त्लेआम के लिये काफ़ी, उन्हीं के हाथों में अब टामीगन आ गई है। बचो उन्हें अपमानित करने से। उन्हें लूटो मत, सताओ मत, बेचो मत, खरीदो मत। बहुत तो हो चुका। महाभारत-काल से आज तक युधिष्ठिर की तरह सत्यवान बनकर पुरुष श्यामासुंदरी द्रौपदी-सी सन्नारी को बाप के माल की तरह सनकी जुए के दाँव पर लगाता चला आ रहा है।

राम—निर्धन के धन

गांधीजी से नहीं, पहलेपहल राम का नाम मैंने अपनी मा से सुना। वह बिलकुल पढ़ी-लिखी न होने पर भी तोते को पढ़ा रही थीं—'बेटू, राम-राम कहो।' बापूजी बैरिस्टर होने पर भी सारे

देश और संसार को वही पढ़ा रहे हैं, जो मेरी बेपढ़ी मा तोते को पढ़ाया करती थीं—'बेटू, राम-राम कहो।' वह तोता राम-भजन का महत्त्व न समझ मा की रट-मात्र देता—'बेटू, राम-राम कहो।' राम कहने के आग्रह पर मा को तोते से जो उत्तर मिला, सुन चुका। अब बापू के आग्रह का उत्तर देश-दुनिया क्या देती है—देखना है।

मा के बाद राम के बहुत बड़े वकील मुझे मिले गोस्वामी तुलसीदास महाराज—'राम को बिसारिबो निषेध-सिरताज रे!' के गानेवाले। क्या कोई बैरिस्टरी करेगा मुवक्किल के पक्ष में, जैसी अपनी सुधामयी रचनाओं में राम का समर्थन तुलसीदासजी ने किया है। बाबा, अपना तो बहुत पढ़ा नहीं, पर तुलसी को पढ़ने के बाद बहुत न पढ़ने का राम नहीं रहा। और मा के राम, बापू के राम, तुलसी के राम निराशा के देव, मृत्यु या अंधकार के अवतार तो हर्गिज नहीं। वह तो—'सबको प्रभु, सबमें बसै, सबकी गति जाननेवाले हैं।' वह केवल ज्ञान-पतियों या धन-पतियों के नहीं, बल्कि—

'कैसेहु पामर, पातकी जो लई नाम की ओट;
गाँठी बाँध्यो दाम ज्यों परख्यों न फेरि खर-खोट।

बिरदपाल, विश्व-कृपाल हैं। गदगद गिरा, गहबर मन, पुलक शरीर—
गावत गुनगन राम के केहिकी न मिटी भवभीर?'

इस सर्वोपकारी मंत्र पर मैं मुग्ध हूँ गोस्वामीजी के। राम-भक्त 'पेसिमिस्ट' या निराशावादी नहीं—

राम - भगति चिंतामनि सुंदर,
बसइ गरुड़, जाके उर - अंतर !
परम प्रकास रूप दिन - राती ;
नहिं कछु चहिय दिआ, घृत, बाती ।
मोह-दरिद्र निकट नहिं आवा ;
लोभ-बात नहिं ताहि बुझावा ।
प्रबल अविद्या-तम मिटि जाई ;
हारहि सकल सलभ-समुदाई ।
व्यापहिं मानस-रोग न भारी ;
जिनके बस सब जीव दुखारी ।
राम-भगति-मनि उर बस जाकें,
दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ।

अतएव गोस्वामी तुलसीदास की राय में—

साधक, सिद्ध, विमुक्त, उदासी,
कवि, कोविद, कृतज्ञ, सन्यासी,
जोगी सूर, सुतापस ज्ञानी,
धर्म-निरत पंडित, विज्ञानी,
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी,
राम ! नमामि, नमामि, नमामी ।

तुलसी-कृत रामायण में अयोध्याकांड के अंत में आनेवाले इस छंद में 'भरत' की जगह 'तुलसीदास' को और 'तुलसी' की

जगह 'उग्र' को रखकर पाठक पढ़ें, तो राम-नाम के प्रति मेरे संबंध का पता मजे में लग जाय—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन
होत जनमु न 'भरत' को—
मुनि-मन अगम जम-नियम
शम-दम विषम व्रत आचरत को ?
दुखदाइ दारिद दंभ दूषन—
सुजस मिस—अपहरत को ?
कलिकाल 'तुलसी'-से सठन्हि
हठि राम सनमुख करत को ?

''.....पायल झनन-झनन बाजे !'

पहले खाना, फिर गाना। कितनी पथरीली। दुनिया पुरानी। प्राणियों के हर काम में शरीर कितना आगे रहता है—भुक्खड़ यह! लेकिन अगर खाना इतना जरूरी कि गाना भूल जाय, तो गाना भी इतना मोहक कि खाना भूल जाय। ख के बाद ही ग—खाने के बाद गाना—हमारी शिक्षा क ख ग से शुरू होती है। जो राष्ट्र जितनी ही अच्छी तरह खा और गा सकता है, उतना ही अधिक सभ्य वह माना जाता है। सो, आर्यों ने भोजन में ६ रस और संगीत में ६ ही राग रचे! भोजन के व्यंजन हुए ५६, तो रागिनियाँ हुईं ३६। इसके बाद भोजन-प्रकार का अधिक विस्तार हमारे पुरुखों ने नहीं किया—शायद उसे शरीर का विषय मानकर, पर राग-रागिनियों के विस्तार पर विस्तार बढ़े। क्योंकि संगीत रूह की खूराक। यहाँ तक क़द्र बढ़ी इस कला की कि वेदों में मुख्य 'साम' माना जाने लगा—गीतिवेद! शारदा ने स्वर सँभाला वीणा लेकर, शंकर ने ताल सँभाला डमरू—डिम्-डिम्—लेकर, गाया हनुमान् ने, गाया नारद ने। झूठ मत मानिए, संगीत में इनके 'मत' हैं। स्वर्ग में गंधर्व-अप्सराओं ने गाया, पृथ्वी पर वासंती वायु ने गाया, पपीहा, कोयल, मोर, गुणी-गुणवंतियों ने गाया। पाताल में किसने गाया, कह नहीं सकता, पर किसी

गायक ने जरूर वहाँवालों को भी स्वरों की माधुरी चखाई होगी, नहीं तो विषधर शेषनाग मुरलीधर की मुरली पर मुग्ध नाचते कैसे ! इस तरह नुमाया गाने के आगे खाने को रखकर भी तत्त्वतः आर्यों ने खाने के आगे गाने ही को रक्खा। कहते हैं, वेदों के रचयिता ऋषियों का दल गायक महाकवियों का ऐसा मंडल था, जो नगर-घर में बँधना नापसंद कर मुक्त गगन के नीचे ज्ञान-मगन घाट-घाट, वन वन विचरण, परिव्रजन—खाना-बदोशी—पसंद करता था। दुनिया के मामूली व्यापार उन्हें रुचते न थे। हमारी अधिकतर राग-रागिनियाँ नैसर्गिक वातावरण में रची गई हैं। अधिकतर हमारे रागी—संसार-विरागी ही रहे या मस्त। जैसे तानसेन के गुरु हरिदासजी, जैसे बैजू बावरे, मुहम्मदशाह रँगीले, बंदे अलीखाँ।

मुसलमान गाने के दुश्मन—लेकिन उनके दिलों पर भी आर्य-संगीत का ऐसा प्रभाव पड़ा कि अकबर के वक्त में 'ख्याल' का एक नया अंग, नई स्टाइल ही ईजाद हुई—ऐसी स्वतंत्र कि आज के ज्यादातर संगीत-विशारद ख्याल ही गाते और बजाते हैं। पुरानी 'ध्रुपद' की प्रणाली गंभीर तो है, पर स्थायी-अंतरा संचारी-आभोग आदि शास्त्रीय बंधनों से जकड़ी बँधी हुई। ख्याल विस्तार में बंधमुक्त है। इसमें कलाकार को खुलकर खेलने का मैदान खासा मिलता है। मैं समझता हूँ, ख्याल का संगीत में वही स्थान है, जो मुक्तक छंद का कविता में। अकबर बाद या तानसेन के मुसलमान होने के बाद मुसलमानों में अनेक संगीत

कला-विशारद हुए। तंतुकार, गायक और गीतिकार भी। आज तो हालत यहाँ तक आ गई है कि हिंदू हों ऊँचे, पर उनकी चोटी की यह कला, यह संस्कृत आर्य-विद्या, मुसलमान गुणी कहीं अच्छी जानते हैं। हिंदू अपने स्वर्गीय गान को भूलता क्यों जा रहा है, भूल क्यों गया ? मैं समझता हूँ, दासता-दारिद्र्य के कारण भोजन न पाने से। सो, सामने आज खाने का मसला ऐसा जाज्वल्यमान है कि हमारे संगीत, साहित्य-कला—संस्कृति का मुँह झुलस उठा है। भूख यहाँ तक भड़की है कि आदमी आदमी को खाने पर आमादा—बेवक़ूफ़, बेसुरा, बेताल। दुनिया अपना संगीत खो सकती है, जिसमें खो जानेवाली विभूति शायद हो ही नहीं, पर हमारा तो खरा खज़ाना है, उस स्वर-वैभव का, जिससे हम सारी प्रकृति को भी पुलकित करें, सावनी झड़ी बाँध, अँधेरे में दीपावली चमका, मृग को मुग्ध—सर्प और सिंह को वश कर सकते हैं। कहते हैं, संगीत-चमत्कार देखने की लालसा से दूर से निकट आए सम्राट् अकबर को साधु हरिदास वृंदावनवासी ने भैरवी रागिनी प्रत्यक्ष उतारकर दिखा दी थी, और तानसेन का गाना सुनते-सुनते सिंहासन से सरकते-सरकते शाहंशाह संगीतकार के सन्निकट आ रहते थे।

इसीलिये तरह-तरह के कलाकारों में गायक सर्वश्रेष्ठ हमारे यहाँ माना गया है। लेखक लिखने बैठे, तो उसे लेखनी चाहिए और पत्र, चित्रकार उरेहने पर आमादा हो, तो उसे चाहिए तूलिक और पट, वादक अपने पर आना चाहे, तो उसे तंबूरा चाहिए,

और तार पर अच्छे गायक को ईश्वर की कृपा और गले के सिवा और कुछ भी नहीं चाहिए। कवि इतना रसमय, स्वरमय होता है—हाँ कि वह गवैया के काफ़ी नज़दीक आ जाता है, पर उसे भी अक्षर-बल तो चाहिए ही। इधर गायक केवल आ-आ-आ से आकाश-पाताल एक कर सकता है!

बनारस

अगले जमाने की तो बात दूर की है, अभी मेरे बचपन में बनारस में प्रायः सभी कोमल कलाओं के अच्छे साधक रहते थे। संगीत में तो बनारस बराबर सारे भारत में अनूठा रहा। ठुमरी, ठप्पा, लावनी, कजली-जैसी धुनें तो गली-गली में गूँजा करती थीं। रोज़गारी कलाकार भी थे, और 'स्वांतःसुखाय' साधक भी। संगीत के समझने में 'बनरसिया' पहले रसिया भी था, और 'कनरसिया' भी। रसिया सो, जो पहचान-परखकर स्वर-राग का स्वाद ले सके। कनरसिया वह, जो स्वरों का प्रेमी तो हो, पर रूप उनका पहचान न सके। गुणवंत गवैए रसिया को देखकर बाग-बाग हो उठते हैं। कनरसिया से भी जी उनका बहल जाता है, पर 'कूढ़ों' से वे घबराते हैं। कोई पूछे 'कूढ़' क्या है? कूढ़ वह आदमी, जो कथा को समझे तो खाक-पत्थर नहीं, और रंग बाँधे कला-पारखी बनने का। इस कूढ़ को एक 'मिसाल से पहचान लीजिए। कमाई के धनी एक अमीर के यहाँ संगीत-सम्मेलन था। किसी अच्छे गायक ने एक गान गाकर ज्यों ही

समाप्त किया, त्यों ही रईसजी ने फ़र्माइश की—"उस्ताद, भैरवी सुनाइए।" चमककर कलावंत ने जवाब दिया—"हुज़ूर, जो अभी गाकर ख़त्म किया, वह भैरवी ही थी !"—"भैरवी थी !" अब कूढ़राज के चमकने की बारी आई—"वाह, वाह ! वाह, वाह ! वाह, वाह ! ख़ूब गाया उस्ताद—बहुत ख़ूब !" ऐसे बेवक़ूफ़ों को गवैया लोग 'कूढ़' कहते हैं, और उसके लाख रुपए को भी संगीत-रसिया की एक 'वाह !' पर निछावर कर सकते हैं। कूढ़ श्राता ही नहीं, गायक भी होता है। उस्ताद के लाख समझाने-बतलाने, एक ज़िंदगी बीत जाने पर भी जो स्वर-ताल-लय को शुद्धता से अदा न कर सके, वही, कलाकार नहीं, कूढ़।

कूढ़ की भी एक कथा। विष्णु के दरबार के एक संगीत-सम्मेलन में चित्रांगद गंधर्व को हरा देने के सबब देवर्षि नारद के मन में बड़ा घमंड हुआ—'दीगरे नेस्त' रंग का। वहीं कहीं हनुमान्‌जी भी थे। हनुमान् का भी संगीत में 'मत' है कि नहीं, सो, नारद का घमंड उन्हें सुहाया नहीं।—'आपने ख़ूब गाया", बोले हनुमान्—"मगर स्वर्ग का सबसे सुंदर संगीतकार गंधर्व हाहा हूहू है। उसे कभी सुनें आप, तो आटे-दाल का भाव खुल जाय।" और नारद भी त्रिभुवन में घूम-घूमकर धूम मचानेवाले संगीताचार्य, किसी से कम मतवाले नहीं। एक गंधर्व को हराने के बाद एतबार उन्हें नहीं हुआ कि कोई गंधर्व भी कभी उन्हें सबक़ दे सकेगा। सुरीला तुरंत ही बीन बजाते-गाते वह गगन-पथ से अमरपुर के उस स्वर-ग्राम की तरफ़ सनके,

जिसमें हाहा हूहू बसता था। मगर गंधर्व के दरवाजे पर पहुँचकर देवर्षि ने जो कुछ देखा, उससे वह दंग रह गए। देखा कि अनेक सुंदर सुंदर देव और देवियाँ भीड़ लगाए अस्पताली मरीज़ों की तरह विकलांग खड़ी थीं। किसी के हाथ कटे थे, तो किसी के पाँव। एक के कान ग़ायब, तो दूसरे की नाक।—"क्यों देव-देवियो!" पूछा देवर्षि ने दया से पुलकित—"तुम्हारी यह दुर्गति किस पापी ने बनाई? तुम कौन हो? यहाँ कैसे खड़ी हो?" विकलांगों ने उत्तर दिया कि—"हम राग-रागिनियाँ हैं, कूढ़ नारद की मारी हुई। अज्ञान बेपहचान गा-बजाकर उसने किसी के कान काट लिए हैं, किसी की नाक। यहाँ हम इसलिये खड़े हैं कि महात्मा हाहा हूहू सिद्ध संगीत-कलाकार हैं। वह जब शुद्ध रूप से गाएँगे, तो हमारे कटे अंग फिर से उग आएँगे!" तब नारद का गर्व खर्व हो गया। देव-ऋषित्व का दंभ भूला, तब वह गंधर्व के चेले बन गए।

संगीत के मामले में मैं स्वयं तब तक बनारस में कोरा कूढ़ कहा जा सकता था। कलकत्ता के 'मतवाला'-जीवन में भी सुर से भेंट न थी। यह स्वर-वैभव साक्षात् हुआ साहित्य का साधन मंदिर उर्फ़ उपवास-निवास छोड़कर सिनेमा की कचौड़ी गली में जा जमने पर। कहानी-संवाद-गीत-लेखक की हैसियत से देश के अनेक गायक-वादक और गायिकाओं का जो मुक्त सामीप्य मुझे मिला, उससे अधिक भारतेंदु हरिश्चंद्र को भी सारी पैतृक संपत्ति स्वाहा कर देने पर भी शायद ही मिला हो।

आप मानें, एक युग तक गवैया-बीनकारों के बीच में रोटी का संबंध है, और उनमें मुसलमान कम नहीं हैं। इन कलाकारों को मजलिस में गाते नहीं, घर में साधना करते हुए बरसों मैंने सुना—और लाख उम्र होने पर भी ऐसा तो पत्थर नहीं कि इतने पर कनरसिया न बन जाता।

हम क़लमबाज़, हम शास्त्रज्ञ, हम सूद-जोड़ समझते हैं कि गवैया-ऐसा आकर्षक कलावंत सिवा आवारे के और कौन हो सकता है। नजदीक से देखकर मैंने यह पाया कि वह आवारा हो, पर योगी भी मामूली नहीं। बड़ी साधनाओं के बाद वह सुर से भेंट कर पाता है। एक-एक गायक और वादक बारह बारह बरस दिन को दिन और रात को रात न समझ साधता रहता है, तब कहीं कुछ बात पैदा होती है। बात भी इतनी खींचनेवाली कि—"कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर लीन ?" की नौबत आ जाती है।

संगीत-सम्मेलन

गत ८-९ दिसंबर को बनारस के 'चित्रा' सिनेमा-हॉल में स्थानीय संगीत-कलाकारों का एक जलसा हुआ। जलसा हुआ टिकट लगाकर, जिसकी आमदनी शरणार्थियों की सहायता में दी जायगी। दुखियों की सहायता और सरस संगीत के जलसे में ढूँढ़िए, तो कोई तुक नहीं। राग-रंग ही में जमकर समाज दुखियों की चिंता करे, तो खेद की बात होगी। दुखियों के लिये

जल्सा वैसा ही लगता है, जैसे घर जलाने पर मल्हार गाना। मेरे मते जिम्मेदार समाज को बिना कहे सावधान उदार होना चाहिए, और शरणार्थियों की सहायता बिना व्याज होनी चाहिए।

फिर भी, अर्से बाद, काशी के अनेक गुणवंत-गुणवंतियों को एकत्र देखने का सौभाग्य ही मुझे मिला। और, खुला यह कि आज बनारस में खाना गाने पर हावी है। इस कला के कारीगर या तो भूखों मर गए, या मरे जा रहे हैं। भूख होती है कैसे और पूछ दोनों की। शायद दोनों ही की कमी इस कमनीय कलाकारों के कठिन कष्ट का कारण हो रही है। ऊपर से सिनेमा, रेकार्ड, रेडियो ने साधक कलावंतों का गला और भी घोंट डाला। इतने पर भी बनारस के गुणियों को सुनकर मालूम पड़ जाता है कि सूखे गुलाब की पंखड़ियाँ किस बहार की पतझड़ हैं। किस सिंगार का उतार? सुना, जल्से की पहली बैठक में विद्याधरी बाई ने इस वय में भी स्वरों की झड़ी लगा दी थी। दूसरी बैठक भैरवी की थी ९ बजे सेबेरे से, पर कूढ़ श्रोता जुटे क़रीब बारह बजे—जब कि दोपहरी रागनियों का समय शुरू हो गया था। इस पर भी तीन बजे दिन तक टोड़ी, भैरवी, जौनपुरी की धूम रही। तीसरी बैठक भी खासी जमी, पर मेरी राय में सबसे अच्छी भैरवीवाली मजलिस थी, जिसमें सबसे अच्छा गाया बड़ी मोतीबाई ने। रात में सिद्धेश्वरी ने भी बहुत अच्छा गाया, पर उनमें वह पानी नहीं, जो मोतीबाई में। इस उम्र में ऐसी

शुद्ध बैठक, मुद्रा और अंग से उन्होंने गाया कि उनकी साधना और कला के प्रति बुद्धि का मस्तक श्रद्धा से झुक गया—"बाबुल, मोरा नैहर छूटो जाय।" लोगों के लिये शोख, पर पंडितों की नजरों में वैदांतिक। गीत मोती ने जिस सुरीलेपन से गाया, उस पर हमें गर्व होना चाहिए कि ऐसी गुणवंतिन हमारे घर में है। उसी तरह पं० हरिशंकर मिश्र बनारस के मर्द गायकों में फर्द मालूम पड़े। अच्छी साधना है स्वर्गीय श्यामसुंदर मिश्र के इस पुत्ररत्न की। तबला बजाने में अनोखे और कंठे बनारस की नाक और हिंदुस्थान की जान हैं। मुंशीरामजी और बैजनाथजी ने सारंगी के कमाल दिखाए। बड़े और छोटे रामदास संगीत-कला के विख्यात साधक भी जलसों में थे, पर दुर्भाग्य से मैं दोनों ही को सुन न सका। अच्छी गानेवालियों में मलका, गिरिजा और ताराबाई के नाम भी लिए जा सकते हैं। इन कलाकारों के पीछे पाप होंगे, पाप-संभव इस संसार में दूध के धोए जो हों, सो हों। पर आदमी पाप और पुण्य, गुण और दोष, दोनों ही का पुतला है। हमें जरूरत है दोषों को बचाते हुए गुणग्राही बनने की—काँटे बचाकर गुलाब चुनने की। इस नजर से काशी के कई कलाकार राष्ट्र की अनमोल संपत्ति नहीं, तो और क्या हैं? मेरी नम्र राय में समाज और सरकार को समय निकालकर इनकी रक्षा करनी चाहिए, इस बात को मद्दे नजर रखते हुए कि खाने के अभाव या प्रभाव से हमारे जीवन का गाना या संगीत कहीं नष्ट न हो जाय।

दूसरे देशों की तरह सिनेमा, नाटक, ओपेरा के रूप में जिस दिन हमारा देश कला-व्यापार करना चाहेगा, उस दिन इन कलाकारों की क़ीमत आँकी जा सकेगी। उक्त धंधों से इतना धन ये राष्ट्रीय कोष में भर सकते हैं, जिससे शराबबंदी की तरह घाटा भरे अनेक सुधार सरकार लुटकी बजाते-बजाते कर सके। अंत में दूसरी मजलिस में कई नीरस गवैयों के चीखने-चिल्लाने के बाद मलकाबाई ने 'जौनपुरी' में जब "पायल झनन-झनन बाजे" गाना शुरू किया, तब मुझे कला-प्रिय मित्रवर प्रोफ़ेसर द्वारकानाथ बोहर की यह बात सरासर सच मालूम पड़ी कि—"गाना महिलाओं के ही मुँह से सुरीला लगता है।" और "रसीला गीत संगीतकार ही रच सकता है।" "बजे पायल छूम।" के रचयिता सुकवि पंत भी संगीतज्ञ होंगे; पुराने गीतकार के—"पायल झनन-झनन बाजे।" में तो तुलसीदास के—"कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि" की झंकार बार-बार गुंजार रही ही है। ऐं!

बनारस फिर से बसे, तो बेहतर*

वह तो विश्वनाथ हैं—घट-घट-व्यापी, जो इतनी कुंज-गलियों के इतने छोटे मंदिर में सदियों तक सन्नाटा खींचे जमे रह सकते हैं, बंदे से तो ऐसी आबोहवा में दो दिन न रहा जाय। ज्यादातर हमारे बड़े-बड़े आराध्य देव छोटी कोठरियों में रक्खे जाते है। इतनी छोटी कोठरियाँ, जिन्हें देख जेल की कालकोठरियाँ भी सकुचा जायँ। देवताओं पर रात को ताले पड़ते है, जैसे जेल में भयानक बदमाशों पर पड़ें; और इस तरह पतित-पावन पतितों के सन्निकटस्थ बने रहते है।

आज हमारे बड़े-बड़े देवताओं के मंदिर संकुचित क्यों रहें? कोई कारण मेरी समझ में नहीं आता। पहले विश्वनाथ-मंदिर काफ़ी विशाल और विशद था, जिसके ध्वंसावशेष पर वह जुमा मस्जिद आज भी सुंदर खड़ा है। उसके बाद जो विश्वनाथ-मंदिर बनाया गया, वह मुसलमानी आक्रमणों से सर्वथा

---

* 'उग्र'जी हिंदी के प्रसिद्ध कहानीकार, उपन्यासकार, पत्रकार और लेखक हैं। आपकी शैली विशिष्ट और प्रतिभा-प्रखर है। काशी या बनारस हमारी संस्कृति का केंद्र है। 'उग्र'जी की बनारस के फिर से बसाने की सलाह मौजूँ और समयोचित है। आशा है, सरकार और जनता, दोनो ही इस ओर ध्यान देंगी।

सुरक्षित रखने के विचार से 'गढ़ियों' की तरह मजबूत गलियों से आवेष्टित। मगर आज मंदिर के चारों ओर इतने गर्भिन बसकर लोग गंदगी क्यों फैलाते हैं, मेरी समझ में नहीं आता। अगर हम आर्य हैं, सनातनी समझदार हैं, संस्कृत हैं, तो सीने पर हाथ रखकर हमें सोचना चाहिए कि क्या विश्वनाथ मंदिर के इतने निकट इतने प्रकार के प्राकृतिक और पाप-पूर्ण मल-विसर्जन करना किसी तरह उचित है ?

स्वार्थ, दूर हट !

विश्वनाथ-मंदिर जहाँ का तहाँ रहे—और दूसरे मंदिर भी—बस, दूर हटाई जाय यह दूकानदारी—गृहस्थों की बस्ती-व्यापारी। अन्नपूर्णा-विश्वनाथ-मंदिर के चारों ओर के पाँच-पाँच बीघे तक के मकान गवर्नमेंट द्वारा खरीदे जाकर गिरा दिए जायँ, तो देव-मंदिर को जरा साँस लेने की गुंजायश हो। नहीं तो आज की सर्वव्यापिनी दूकानदारी, हत्यारी उनका गला चापे डाल रही है। मकान-दूकानों को गिरा देने के बाद उनकी जगह फूल-बेल के बाग लगाए जायँ—ऐसे, जहाँ भरसक हरएक दर्शनार्थी को बिल्व-पत्र और पुष्प महज हाथ हिलाने से हासिल हो जायँ—हर मौसम में। तब मालूम पड़े कि तीर्थ है, देव है, आब है, हवा है। नहीं तो जिस मंदिर के सामने जाइए, जूते का सवाल आज भी सरासर सर पर सवार। मालियों का उचित धंधा एक ओर, धर्म - ठेकेदारों का अनुचित आक्रमण दूसरी तरफ। छोटी गलियों में अज्ञान-पूर्ण से भी आगे निर्लज्ज धर्म-

धक्के। बच्चे को सँभालिए, तो जोरू स्वयंसेवक के हाथ में; जूते को बचाइए, तो जेब गायब! हिंदू बड़ा आस्तिक है, हाँ, इस कठोर कलि-काल में; जो इतने धक्के खाने, जोखम उठाने पर भी देवताओं के दर्शन करने जाता है। पर अब उसके अंध-विश्वासों का अधिक लाभ न उठाया जाय, तो धर्माधिकारियों के हक़ में बेहतर होगा। भविष्य में मंदिरों और उनके आस-पास के वातावरण को आध्यात्मिक, सात्विक बनाना ही होगा; नहीं तो राजक्रांति के बाद धर्मक्रांति भी होगी। और, अभी तो मैं दूकानों-मकानों को तोड़वाने की सलाह देता हूँ, पर धर्मक्रांति में क्या टूटेंगे, उसकी कल्पना भी प्रकंपनकारी है। तब मनुष्य का विश्वास टूटेगा, आदमी का दिल टूटेगा, भगवान् का मंदिर टूटेगा, ख़ुदा का घर टूटेगा। रूसी या पछाँही कम्यूनिस्ट इसी प्रलय का अग्रदूत अपने को कहता है। वह उसी प्रलय की प्रतीक्षा में है, जिसमें देवताओं के घर टूटें, और उनकी जगह कारख़ाने और दूकानें नवनिर्मित हों। तब केवल सौदा होगा, पूजा बिलकुल न होगी। आदमी अपने को छोड़ दूसरे के सामने झुकेगा नहीं—नजरुल इस्लाम के शब्दों में कहेगा—

आमि बेडुइन, आमि चंगिश;

आमि आपनारि छाड़ि करि ना काहारो कोर्निश!

(मैं बुद्ध हूँ, मैं चंगेजी हूँ—ख़ुद को छोड़ ख़ुदा को भी मैं मानता नहीं!) पर स्वभावतः लाख-में-लाख हिंदू व्यापार से घिरा होने पर भी परमात्मा के चरणों को छोड़ना नहीं चाहता।

यह छोटी नहीं, बहुत बड़ी बात है। रूस में जीवात्मा का विश्वास परमात्मा पर से उठ गया है, अमेरिका और ब्रिटेन में जो सशक्त है, वे आत्मविकास के ही पक्षपाती हैं। सो, दुनिया के मजबूतों के पास वह आत्म-बम ही है, जिसे उच्चारण-दोष से लोग 'एटम बम' कहा करते हैं। पर भारत अपनी ईश्वर-प्रेमी परंपरा ही पर है, भक्त बना हुआ, क्योंकि विभक्त होने में हमारे देशों की किसी भी पीढ़ी के दार्शनिक ने किसी की भलाई देखी नहीं। गांधीजी जिस रामधुन के दिव्य पक्षपाती हैं, उसके बारे में तुलसीदासजी ने यहाँ तक चिल्लाकर गाया है कि—'राम-राम-राम जीह जौ लौं तू न जपि है; तौ लौं तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपि है।' पापियों की तो बात ही दूर, राम का चरण छोड़ देने पर गंगाजी तक गोस्वामीजी की नजरों में 'अहेतू' बन गईं—

"यद्यपि अति पुनीत सुर-सरिता, तिहुँपुर सुजस घनेरो;
तजे चरण अजहू न मिटत है बहियो ताहू केरो।"

पक्का मुहाल

मगर मैं बनारस को नए ढंग से बसाने की चर्चा करता था। मेरी राय में यह पक्का मुहाल, जो राजघाट से अस्सी घाट तक लंबायमान है, अब अपनी सारी विशेषताएँ समाप्त कर चुका है। यह पक्का मुहाल सबसे ज्यादा उपयोगी था मुसलमानी राज्य-काल में, जब दुष्टों के आक्रमणों से हमें अपने घर और मंदिरों की रक्षा करनी थी। तब ये अँधेरे मुहल्ले, सीले घर और सँकरी गलियाँ दर-दर पर हल्दी घाटी बनाने के लिये ठीक थीं।

मगर आज अनुपयोगी ही नहीं, असुंदर और अस्वास्थ्यकर भी प्रकट हैं। मेरा ख़याल है, जन-संख्या के अनुपात से काशी में सबसे कच्चे लड़नेवाले लोग पक्के मुहाल में ही निकलेंगे। जब खुली हवा नहीं, आकाश नहीं, तब दिल या 'हीया' किसी का क्या खुलेगा। गांधीजी जब कहते थे कि भरसक मुक्त आकाश के नीचे सोना चाहिए, तब कोई झूठ या नई बात नहीं कहते थे। राम नाम से राम-राज्य तक महात्माजी कुछ भी नया नहीं प्रचारते। मगर सूरज और चाँद, हिमालय और गंगा जैसे पुरानी न हो नित नूतन बनी रहती हैं, वैसी ही कथा शाश्वत सनातन सत्यों की भी है। पक्के मुहल्ले के अधिकांश निवासी नैसर्गिक जीवन से नितांत दूर जा पड़े हैं। इन मुहल्लों के निचले खंड तो पशुओं के रहने क़ाबिल भी नहीं। यहाँ घर-गृहस्थों के साथ उनका नाम लेने के लिये पशुगण मुझे माफ़ करें, जो अपनी तरफ़ से किसी भी थान, कानीहौस या बाड़ा बनाने के पक्षपाती किसी भी काल में न थे, न तो आज ही हैं। पशु एक सभ्य नहीं बना, प्राकृतिक जन्म पाने के बाद सांस्कारिक जीवन के तारों का चोला चढ़ा द्विज वह न हुआ, पर पशुत्व से स्खलित भी वह कभी न हुआ। मारते को सींगे पर मारा, पुचकारते के खेत जोत दिए, जो पाया, सो खाया, और पेट से ज्यादा कभी जोड़ा नहीं। जिसने एक मुट्ठी घास दी—रास-रास अन्न से उसके खलिहान में अन्नकूट खड़ा कर दिया—और किसी से कहा तक नहीं कि हमने यह किया, वह किया। पशु झूठ नहीं बोला, चोरी

भी उसने कभी न की—व्यभिचार, जुआ, नशेखोरी भी नहीं। साथ ही राम या अल्लाह के नाम की माला भी उसने कभी न फेरी। पशु ने न तो रेशम के दुपट्टे ओढ़े, न रेजे ही बेचे। यह हत्यामय शरीर सजाने का शौक़ उसे कभी चर्राया ही नहीं। पशु आज़ाद विचरता रहा, पर धन के लोभ में पक्के मुहल्ले में आकर कभी न बसा। ज़मीन पर खा लिया उसने, मगर पीतल के धंधे की बेईमानी भरी खटखट से अपनी खोपड़ी हर्गिज़ न खटखटाई। पशु मूल खाकर रह गया होगा, पर सूद तो प्रकृति-पुत्र सपने में भी नहीं खाता।

सो, पक्का मुहाल के घरों के निचले खंडों में पशु तो नहीं, मनुष्य ही रह सकते हैं; दूसरे खंडों में मनुष्य नहीं, व्यापारी ही रह सकते हैं। तीसरे-चौथे खंड बेशक इंसानों के रहने क़ाबिल कहे जा सकते हैं, पर कितने इंसान होंगे ऐसे भाग्यवान्, जो तीसरे-चौथे खंडों में रह पाते होंगे। बाक़ी उसी अंधकार और सील में बच्चे पैदा होते हैं, किलकते हैं, खेलते हैं। माताएँ पीली बनने में सरसों के फूल से हल्दी की जर्दी तक होड़ लगाती हैं। ऐसे संकुचित वातावरण में रहनेवालों का मन सम्यक् रूप से विकसित कैसे होता होगा। समुद्र को देखकर अगर मानव-हृदय समुद्र बनकर लहराने लगता है, तो क्या पक्के मुहाल की गंदी गलियों और कुंज-कोठरियों को देखकर कुंद न होता होगा? मैं कहता हूँ, पक्के मुहालवालों का कुशल-मंगल महज़ उन्हीं का नहीं, सारे बनारस का कुशल-मंगल है। उनका अशोभन सारे शहर

का अशोभन है। पक्के मुहालों को सावधानी से तोड़वा डालना चाहिए। सावधानी से अभिप्राय यह कि उनके जो हिस्से खूबसूरती से कुशादा हों, उन्हें नष्ट नहीं करना चाहिए।

पक्का मुहाल तोड़ना कोई विश्वनाथ-मंदिर का तोड़ना नहीं, और विश्वनाथ-मंदिर भी परिवर्तन के हाथों से बिगड़े-बने बग़ैर बचा नहीं—इसका सबूत तो जुमा मस्जिद के पीछे ही है। सो, आज ही नहीं, सोच-समझकर, प्लान बनाकर, पक्के मुहालवाले, काशी के नागरिक, नगरपालिका और नगर-पितागण इस विश्व-प्रसिद्ध विश्वनाथपुरी को इसके नामानुसार मंदिर बनाने का बीड़ा उठावें। आवश्यकता होगी, तो काशी के नवनिर्माण में आर्थिक सहायता अखिल धर्मात्मा भारत देगा, केंद्रीय और प्रांतीय सरकारें देंगी।

अपना सपना

मुझसे पूछिए तो, बनारस के सुधार, सौंदर्यवर्धन के लिये। गंगा-तट पर राजघाट से नगवा तक एक सुंदर आधुनिक सड़क होनी चाहिए। इसके बाद सुंदर पुष्पोंवाले उपवनों में बड़े-बड़े पुराने मंदिर हों। सारे तट पर मंदिर हों, या अस्पताल, या वाचनालय, व्यायामशाला या विविध विद्याओं के दिव्यदर्शी विद्यालय। घाटों से बाज़ार और बस्ती ज़रा पीछे मैदानों की तरफ़ कर दी जाय। वरुणा की तरफ़, सारनाथ की ओर और हिंदू-विश्वविद्यालय की दिशा में नया बनारस विस्तृत बसाया जाय, जिसमें नागरिकों के घर आधुनिकता की सड़क पर पुराण

और इतिहास के पुट से सुनिर्मित किए जायँ। बाजार अलग बसे, घर अलग। घर को बाजार में बैठाकर कमानेवाली वर्तमान चाल स्वास्थ्यकर नहीं। बाजार बनाने में दूकान का ध्यान रहे जरूर, पर घर बनाने में उद्यान का ध्यान भी उसी सावधानी से रखना होगा! नहीं तो जैसे दूकान बिना बाजार सूना, वैसे ही उद्यान बिना घर भी सूखा मालूम पड़ता है। जब मैं घर या उद्यान कहूँ, तब यह न समझा जाय कि बड़ी-बड़ी इमारतें चाहता हूँ। मुझे तो छोटे-छोटे, हरे-भरे, कला-पूर्ण बने झोपड़ीनुमा बँगले या बँगलानुमा झोपड़े ज्यादा पसंद हैं।

सारे बनारस में संतों के नाम पर एक मुहल्ला है कबीर-चौरा, एक ही सड़क है—संत कबीर-रोड। जब नया बनारस बसे, तब गंगा किनारेवाली नई सड़क का नाम हो—श्रीतुलसीदास-पथ। मैदागिन से गोदौलिया तक की सड़क का नाम हो भारतेंदु-मार्ग, चेतगंजवाली सड़क प्रसाद-पथ हो, और सिगरा स्टेशन जानेवाली राह बने प्रेमचंद-रोड। रामानंद, कीनाराम, रैदास, विशुद्धानंद और ३० वर्ष पहले के उस भंगी जनगायक उस्ताद भैरों के नाम पर भी सड़कें चलाई जा सकती हैं, जिसकी कजलियाँ बनारस के बड़े-बड़े पंडित और रईस मंत्र-मुग्ध होकर सुना करते थे—उचित आसन, पान, पुरस्कार देकर।

प्रदर्शनी

जनवरी ख़त्म होने के एक दिन क़ब्ल दिल्ली में महात्मा गांधी मारे गए, फ़रवरी ख़त्म होने के दो दिन पहले काशी में कांग्रेस-प्रदर्शनी शुरू हुई। जनवरी का महीना बड़ा, दिन ३१; फ़रवरी छोटी, दिन २९। ३१ जनवरी को काशी में कैसा मातम, २९ फ़रवरी को कितनी ख़ुशी। पहले दिन कितना अंधकार, दूसरे दिन कैसा प्रकाश। पहले दिन वातावरण में कितना वैराग्य, दूसरे दिन कितने राग—कोई नेता से, टाउन हॉल के शिखर पर टँगे लाउड स्पीकर से पूछे! मुझसे पूछे कोई!

जैसा समाचारों से प्रकट है, महात्मा के मारने की तैयारी महीनों पहले से जारी थी; काशी-कांग्रेस-प्रदर्शनी-प्रबंध भी पखवारों से पूरा जा रहा था। गांधीजी को गोली मारने से देश को जो नुक़सान हुआ, उसकी गणना अपार। प्रदर्शनी को गोली मार देने से जो हानि होती, कहा जाता है, उसकी गणना है—पंद्रह हज़ार काग़ज़ी कलदार। सो, गांधीजी सोए—बुरा हुआ, प्रदर्शनी जागी, बड़ा भला हुआ। रात के बाद दिन, अंधकार के बाद प्रकाश, दुःख के बाद सुख, रोदन के बाद हँसी निहायत ज़रूरी। गांधीजी के मरने पर रोना आया, प्रदर्शनी खुलने पर हँसी आई। मेरे पास पार्टी नहीं, प्रेस नहीं, प्रभाव नहीं, नहीं तो यही साल

था 'बुढ़वा मंगल' शुरू कराने क़ाबिल ! पुरवैया हवा—'पुरजन-पूजोपहार-शोभित, शशि-धवलधार' गंगा की मझधार में चंद्रमुखी के कोकिल-कंठ से चैती बहार सुनने क़ाबिल !!

जैसे साहबखाना जिस साल गुज़र गया हो, उस साल घर की शादी नहीं जमती, वैसे ही इस साल की प्रदर्शनी जमी नहीं। न तो बाहरी दूकानें आईं, न रंग-बिरंगा सामान। देखिए, तो देखने योग्य कुछ भी नहीं। सारी प्रदर्शनी में सबसे ज़्यादा दर्शनीय जो चीज़ मैंने पाई, उससे प्रदर्शनी-प्रबंधकों का कोई संबंध नहीं। वह चीज़ आज से साढ़े छ महीने पहले वहाँ बनाई गई थी। वही, महात्मा गांधी के स्मारक की बुनियाद, माननीय मिनिस्टर संपूर्णानंद ने जिसकी नींव डाली थी। ईंट का तीन फ़ुट चौतरा, जिसकी छाती पर संगमरमर की शिला फ़ौलादी कीलों से कीलित। शिला पर उज्ज्वल विचार के काले-काले अक्षर, भाव यह कि काशी के नागरिकों की ओर से यहाँ पर महात्मा गांधी की मूर्ति स्थापित की जायगी। ६ ही महीने के अंदर इस शिलान्यास की समाधि के तीन सैकड़े ईंटे ग़ायब और शिलालेख के तिरपन सैकड़े अक्षर सफ़ाचट ! नागरिकों का नाम बिगड़ गया है—अक्षरों से 'लेड' ग़ायब—महात्मा गांधी का नाम तो गंजे की खोपड़ी की तरह उड़ गया है। केवल 'माननीय संपूर्णानंद' चमक रहे हैं। खेलवाड़ में महात्मा गांधी का नाम उखाड़ फेकने-वाले लौंडे माननीय शिक्षा-मंत्री के नाम से खेलवाड़ न कर सके। बोर्ड पर गांधी का 'धी' बचा भी, तो आधा—महज़ 'ही'। 'ही'

माने अँगरेज़ों का 'हम' (हमारा 'अहम्' तो नहीं ?)। हाँ, तो अहंकार-मात्र काशी के नागरिकों का मूर्तित रह गया है टाउनहॉल के मैदान में, और 'माननीय संपूर्णानंद।' महात्माजी के स्मारक का और कोई भी लक्षण वहाँ नहीं।

विलक्षण हम ! हम कलाविद्, हम कलाकार, हम कलदर, मगर, सामने धर दीजिए, तो मामूली कपड़े पहनने की तमीज़ नहीं। फलतः पाँवों में क़मीज़ पहन लेते हैं, हाथों में पाजामा ? जामे के अंदर रहना जानते ही नहीं। स्वयं कुछ न जानने पर भी जानकारों से जानने में हमारी जान जाती है। सो हम सर्वज्ञानी, जो नहीं जानते, उसकी भी कल्पना कर लेनेवाले। विधाता की कल्पना हम, हमारी कल्पना सारी प्रदर्शनी। फिर किसी से कण बराबर भी कम हम कैसे ? विधाता होगा ऊपर, हम हैं नीचे।

तीसरे दिन प्रदर्शनी में पहुँचा, तो लाउड स्पीकर हल्के गाने गाता—एक महीना पहले फगुआ ललकारता सुनाई पड़ा। चौथे दिन पं० कृष्णचंद्र शर्मा से 'अँखियाँ लगायके, जिया भरमायके' टाइप के गानों का विरोध किया, एक अच्छे कांग्रेसी कार्यकर्ता बंधु ने भी सुना। ५वें ही दिन अच्छे गाने रेकार्ड पर, रेडियो-ज़ुबान पर, हमारे कानों पर आए। मगर अब भी रेडियो के साउंड-कंट्रोल—स्वर-साधक के स्वर-ज्ञान से मेरा तीव्र मतभेद है। मैं गाने और चिल्लाने में फ़र्क़ मानता हूँ। तनिक-सा तन जाने से ताँत या तार तेज़ हो जाता है। मादक मल्लार धमधम-धमार बन जाता है। मनुष्य का मन गाने का

गुणी गहन। नादमय ब्रह्म उसे मालूम, 'साम' के स्वर उसने साधे। संगीत-कला के करोड़ कपड़छान आर्यों की (अ-) नाद-परंपरा में तार के बाजों में शुद्ध स्वर है, वह हारमोनियम-पियानो में नहीं। हारमोनियम-पियानो में जो, वह लाउड स्पीकर में भी नहीं। स्वर-प्रचार व्यापार के कारण भारवान् हो जाता है जैसे, फ्लैट कह लीजिए। सारंगी और लाउड स्पीकर के स्वरों में माखन-मिसरी की सुवर्ण-कटोरी और चाकलेट-बॉक्स का अंत।

प्रदर्शनी में सस्ता सहृदय-समागम और सब कुछ महँगा, पर अच्छा नहीं। धूल-धक्कों के प्रभाव से घूमना महँगा, बेंचों के अभाव से बैठना महँगा। चार पैसे का एक पान जगन्नाथी, मघई महँगा, भीगी सुपारी नहीं। नमकीन खरीदकर खाई, तो रात-भर पेट में कॉलरा के कीड़े कूदते मालूम पड़े। पिस्ते की पपड़ी खाने बैठा, तो लोहे के चने चबाने पड़े—तोड़ने में धनुष तोड़ने का परिश्रम करना पड़ा। सौदागरों के अभाव से दूकानों का बाजार-भाव तेज, माल हलका। टिकाऊ नहीं, धराऊ। दूकानें सजी नहीं, भरी-भरी भारी नहीं, बिखरी हुई हैं—कला-हीन। मंदिर में जाइए, तो प्रवेश भी दमड़ी नहीं, पर अंदर दक्षिणा-प्रिय देवताओं के दर-पर-दर। देवता प्रसन्न होते एक पाई में, एक तंदुल से, दूब से। प्रदर्शनी में प्रवेश-फीस दो आने, अंदर के नाटक चार-चार, आठ-आठ आने। टका नहीं, तो टकटकी लगाकर टिकट-कलेक्टर का टट का मुँह देखिए। इंजानिब 'संगीत-सम्मेलनवाले' दिन दिल मसोसकर रह गए। चार आने में जाना

बेइज्जती, आठ आने में इज्जत, पर जेब टटोलता हूँ, तो पैसा तो है ! लाचार, चार पैसे के कला-भवन में घुसा। देखा, कांग्रेस-इतिहास के चित्र हजार-हजार, क़तार-क़तार, लेकिन चर्खे का चित्र महज़ एक। 'श्रीसंपूर्णानंद के सुझाव' से सहृदय संपादकों द्वारा चुना गया नख-शिख वर्णन देखने को मिला, नारी का अंग-अंग नंगा। चारो तरफ कलाकार कंठा ले-कंठा ले। ब्रश नहीं बिजली, काग़ज़-पर-काग़ज़ कमालवाले।

सौभाग्य से काशी में इस वक्त केवल बोलने का फ़ैशन रह गया है, रहन-सहन में कोई ख़ास बात नहीं। सो, किसी पत्र का फ़ैशन-रिपोर्टर सारी जिंदगी तमाशा देखे, पाएगा केवल अधमैली क़मीज़, बेधुली धोतियाँ, गमछे। पंद्रह दिन प्रदर्शनी में गया हूँ, पर पंद्रह आदमी क़ायदे के कपड़े पहने नजर नहीं आए। मालूम पड़ा अभाव चारो ओर। जिनके पास कपड़े, दिल नहीं उनके पास, जो तबीयतदार, उनके पास 'लाढ़ेराम' नहीं।

फिर भी प्रदर्शनी की बुराई मैं नहीं कर रहा। महात्मा के मरने के बाद दिल संकुचित हो गया था, प्रदर्शनी खुली, तो खुली। बनारस में फ़िलहाल घूमने क़ाबिल कोई जगह नहीं। धन नाते कठौती एक चौक, जहाँ भारी भीड़। पहले भार्गव या गोपालदास की दूकानों पर चार यार गाल मारते थे, आज व्यापार से फ़ुर्सत नहीं। जिओ व्यापार से, मरो व्यापार से। खाने-पहनने की होस नहीं। संग्रह, संग्रह—धर गोलक में, यही जीवन है। जिसके माने हैं—'मक्खी मारे पखना हाथ।' चौक जाइए,

तो रिक्शों के धक्कों से क्षण-क्षण पर चौंकने की नौबत। भला हो प्रदर्शनी का, दो आने में घूमने क़ाबिल जगह तो नज़र आती है। इस दृष्टि से प्रदर्शनी तीन सौ साठ दिन चलने क़ाबिल। फ़ायदा सबका, नुक़सान किसी का भी नहीं। चारों तरफ़ परमानेंट दूकानें बना दी जायँ, तो म्युनिसिपैलिटी का धंधा बढ़ जाय, उद्योग भी, प्रवेश-फ़ी लगान की ज़रूरत न रहे। फ़ीस लगाइए एक आने आदमी भी, तो सौ रुपए रोज़ का ठेका लेने को मैं तैयार। केवल सोचने की बात एक, टाउनहॉल में आएदिन होनेवाली सभाओं का क्या होगा? मैं पूछता हूँ, आख़िर बेनियाँबाग़ किस मर्ज़ की दवा है?

प्रदर्शनी का शृंगार मेरी राय से किसी असली कलाकार की सलाह से करना चाहिए। असली माने चंडूबाज़ नहीं, बल्कि वह, जो कल्पनाओं का अमल से साकार कर चुका हो। जैसे फ़िल्म-कंपनियों का आर्ट-डाइरेक्टर कोई। मेरी सलाह ली गई होती, तो सबसे पहले गांधी-स्मारकवाले टूटे चबूतरे को ठीक करा उस पर महात्मा की एक मृण्मयी मूर्ति खड़ी करता, नीचे लिखता—"काशी के नागरिक भूले नहीं।" इतने में ही वह टूटी मज़ार बसंत बहार गाने लगती। ज्ञात-अज्ञात शहीदों के नाम पर जो स्तंभ—तिरंगा शिखर बनाया गया है, बढ़िया है, पर बहुत बढ़िया होता, अगर उसके चौरे पर धूप का अहर्निश होम होता, और हवन-कुंड के बीच में होता तिरंगे शीशे का बिजली का चार फ़ुट लंबा राड—वज्रदंड! ललितकला-भवन में काशी-

भर के चित्रकारों की ललित कला आग्रह से मँगाता। और, नख-शिख-वर्णन के वर्तमान कार्ड फाड़कर फेंक देता। दूकानें भी मैं अपने खास रंग—राष्ट्रीय ढंग से सजाता, हरएक के माथे पर तिरंगा वंदनवार सँवारता। मुग़ली ज़माने का नक़ल असली रूप में उतार तोरणद्वारों पर काशी के विश्व-विख्यात शहनाईवालों से पाँच बजे शाम को 'भीम पलास' के आलाप कराता, दस बजे रात को 'दरबारी', बारह बजे बिहाग के। लोग ज्यादा जागते, तो 'जोगिया' सुनवाता। लाउड स्पीकर का प्रयोग मैं बहुत कम करता, करता, तो केवल कला के शाश्वत कमाल के विस्तार के लिये।

एक दिन महिलाओं के लिये मैं रखता, और मनोरंजन के बहाने सती से लेकर कस्तूरबा-काल तक की सन्नारियों का मंगल-मय रूप उनके आगे रखता। मर्द एक भी उस दिन की व्यवस्था में न रक्खा जाता, तरुणियाँ ही महिला-मेला का प्रबंध सँभालतीं। एक दिन रखता मैं कुमारों के लिये केवल। प्रबंध सँभालते केवल अध्यापक, और उस दिन प्रत्येक विद्यार्थी को आर्य ब्रह्मचारी और अध्यापक को प्राचीन गुरु सदाचारी के वेश में प्रवेश कराता, और सारे काशी-खंड में जो कुमार सर्वाधिक यथार्थ ब्रह्मचारी मालूम पड़ता, उसे पुरस्कार देता, 'आयुष्मान्' कहकर आशीर्वाद देता मैं।

मिट्टी के पुतले बनवाता मैं शराबी के, अफ़ीमची, गँजेड़ी, कोकिनखोर के, और हरएक नशे की परिणामदर्शी मूर्तियाँ मैं गढ़ा-गढ़ाकर घेरे में घेराता। खर्चा लगता कई हजार, पर दिखलाता

सबको मुफ्त। फिर भी इस मद में व्यय हुआ एक-एक पैसा, मैं प्रांतीय की दादी केंद्रीय सरकार से चरण नहीं, नाक पकड़कर वसूल कर लेता।

स्वचालित नुमायश में कवियों को रखता कि नहीं, सोचा नहीं अभी इस मसले पर, लेकिन प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक से निकाल बाहर किया था इन्हें, काल्पनिक कलंदर कहकर। गुरु-कृपा और पिंगल-वंचित कविता करने से कितना घोर पाप होता है, कैसा दुष्परिणाम, इस पर पंडित विश्वनाथ मिश्र-जैसे साहित्य-सेवियों का भाषण कराता। इसलाह पाई हुई, गुरु-शोधित कविता और निगुरों की रचना का भेद सुनाता। कवि-सम्मेलन, मुशायरा प्रदर्शनी के सिलसिले में मैं तो न कराता। ये अधे तो आएदिन के—इनमें अपूर्व दर्शन-प्रदर्शन कहाँ! एक दिन 'झंडा-दिवस' बनाता मैं, मनाता मैं झंडोत्सव। प्रदर्शनी में बेनागा आनेवाले महिला-महापुरुषों को इस दिन मुफ्त इंटर किया जाता। तिरंगे पर गान होते, भाषण होते। घर लौटते समय हर नारी, हरएक नर के हाथ में होता तिरंगा, हमारी तरफ से मिला—अमूल्य।

एक दिन काशी की विख्यात कलावंति गणिकाओं के कमाल के लिये भी क़ायम करता, संगीत-गुणियों के लिये, और बड़ी मोती की बड़ी मशहूर भैरवी "बाबुल, मोरा नैहर छूटो जाय!" जरूर सुनाता—दिखाता सुरों की सतरंगी प्रदर्शनी।